सर्वज्ञात्मुनिप्रणीत पञ्चप्रक्रियाः हिन्दी-अनुवाद एवं विश्लेषण

(Sarvajñātmamunipraṇīta Pañcaprakriyā: Hindī-Anuvāda evaṁ Viśleṣaṇa)

एम. फिल. उपाधि हेतु

लघु शोध-प्रबन्ध

सत्र 2014

शोधनिर्देशक

डॉ. राम नाथ झा

सह आचार्य

शोधार्थिनी

ममता स्नेही

एम.ए., बी.एड.

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- **110067**

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

28 July, 2014

DECLARATION

The dissertation entitled सर्वज्ञात्ममुनिप्रणीत पञ्चप्रक्रिया: हिन्दी-अनुवाद एवं विश्लेषण (Sarvajñātmamunipraṇīta Pañcaprakriyā: Hindī-Anuvāda evaṁ Viśleṣaṇa) submitted by Mamta Snehi to Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi – 110067 for the award of degree of **Master of Philosophy** is an original research work and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree or diploma in any University. This may be placed before the examiners for evaluation.

Prof. C. Upender Rao
(Chairperson)

Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Dr. Ram Nath Jha
28.07.2014
(Supervisor)

Dr. Ram Nath Jha
Associate Professor
Special Centre for Sanskrit Studi
Jawaharlal Nehru University
New Delhi - 110067

समर्पण

प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध को

मैं

वात्सल्य की प्रतिमूर्ति एवं

मेरे प्राणों की आधार

मेरी पूजनीया माताजी **श्रीमती गीता देवी** एवं

मेरे पूज्य पिताजी **श्री रामस्वरूप साहू**

को

समर्पित करती हूँ।

कृतज्ञता ज्ञापन

॥ ओ३म् तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" इस वैदिक वाक्य को निरन्तर व्यवहार में लाने वाले अध्यापकों, परिजनों एवं मित्रों को धन्यवाद ज्ञापित करते हुये मैं सर्वप्रथम बुद्धिप्रदायिनी माँ सरस्वती और भगवान् शिव को नमन करती हूँ, जिनके सहयोग और आशीर्वाद से यह लघु शोध कार्य सम्पन्न हो पाया है। बाल्यकाल से ही मेरे परम पूज्य माता-पिता द्वारा सदाचार, नैतिकता तथा धार्मिक उपदेशों को सुनकर मुझमें संस्कृत अध्ययन के लिये अद्भूत प्रेरणा का सञ्चार हुआ तथा उन्हीं की प्रेरणा से मैं विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र जे.एन.यू. में आ पायी। मेरे ऋषि तुल्य पिताजी और माता जी ने न केवल मुझे शिक्षा के प्रति उन्मुख किया अपितु जीवन में सदैव सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। अतः मैं वात्सल्य की प्रतिमूर्ति एवं मेरे प्राणों की आधारभूता पूजनीया जननी श्रीमती गीता देवी एवं पूज्य पिताजी श्री रामस्वरूप साहू के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनकी अभिप्रेरणा, उत्साहवर्धन तथा वात्सल्य से मुझे अपना कार्य पूर्ण करने की मानसिक शक्ति प्राप्त हुयी। उन्होंने ही मुझमें श्रेष्ठ संस्कारों का बीजारोपण किया तथा विकट परिस्थितियों में भी धैर्यपूर्वक आगे बढ़ते रहने की शिक्षा दी।

अब मैं उन विशिष्ट लोगों का धन्यवाद ज्ञापित करना चाहती हूँ, जिनके सहयोग के अभाव में मैं अपना शोधकार्य कभी भी पूर्ण नहीं कर सकती थी। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की निर्विघ्न परिणति के लिए मैं विशेष आभार व्यक्त करती हूँ, मेरे शोध निर्देशक **डॉ. राम नाथ झा** का, जिनके वैदग्धपूर्ण निर्देशन और अध्यापन के अभाव में इस शोधकार्य के पूर्ण होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे शोध – कार्य के लिये परम श्रद्धेय पूज्य गुरुवर **डॉ. राम नाथ झा** का सानिध्य प्राप्त हुआ, इसे मैं अपने पूर्वजन्म का पुण्योदय ही समझती हूँ। दर्शन विषय में मेरी स्वाभाविक रूचि होने पर भी अद्वैत वेदान्त में मेरी विशिष्ट

और प्रगाढ रूचि होने का एकमात्र कारण मेरे गुरुवर द्वारा परास्नातक स्तर पर अद्वैत वेदान्त का स्पष्ट और सरल अध्यापन ही रहा है । आपके द्वारा वेदान्तसार और ब्रह्मसूत्रशाङ्कर भाष्य सहित उपनिषद्भाष्यों के सैद्धान्तिक पक्षों का व्यावहारिक रूप से अध्यापन करवाने के उपरान्त ही मैं यह निश्चय कर पायी कि मुझे अपना शोध-कार्य अद्वैत वेदान्त में ही करना है । वेदान्त के अध्यापन के दौरान आपके द्वारा अनेक बार यह कहा जाना कि– 'सर्वज्ञात्ममुनि द्वारा प्रणीत पञ्चप्रक्रिया नामक प्रकरण ग्रन्थ का अभी तक कोई हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है' आपका यह वक्तव्य ही मेरे शोध कार्य का आधार बन गया । तदुपरान्त आपके निर्देशन में सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्यापन करवाये जाने के फलस्वरूप ही मेरा शोध कार्य परिणति को प्राप्त हुआ है । इस प्रकार इस कार्य में **डॉ. झा महोदय** ने विषय चयन से लेकर शोधकार्य की सफल परिणति पर्यन्त अमूल्य योगदान दिया । उनके कुशल मार्गदर्शन से ही प्रस्तुत कार्य सम्पन्न हो पाया है ।

शोधार्थिनी संस्कृतकेन्द्राध्यक्ष प्रो. सी. उपेन्द्र राव एवं केन्द्र के सभी अध्यापकों - डॉ. गिरीश नाथ झा, डॉ. रजनीश कुमार मिश्र, डॉ. हरिराम मिश्र, डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ला, डॉ. सुधीर कुमार आर्य तथा पूर्व केन्द्राध्यक्ष प्रो. शशि प्रभा कुमार - के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती है, जिनकी प्रेरणा तथा उचित मार्गदर्शन से शोधार्थिनी को अपना शोध कार्य सम्पन्न करने में सहायता मिली ।

मैं विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र के समस्त कर्मचारियों विशेष रूप से श्री वीरेन्द्र सिंह जी, मनीष जी, दीपक जी, शबनम खान एवं मंजू जी के प्रति अपना धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ साथ ही संस्कृत केन्द्र के पुस्तकालय प्रभारी के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने शोधार्थिनी को समय-समय पर यथायोग्य सहयोग किया ।

मैं मेरे अग्रज डॉ. सच्चिदानन्द स्नेही एवं भाभी पल्लवी प्रसाद का धन्यवाद करती हूँ, जिनके मार्गदर्शन और उत्साहवर्धन ने मुझे सदैव मानसिक सम्बल प्रदान किया । मैं धन्यवाद करती हूँ मेरी अग्रजा सत्यमुदिता स्नेही का, जिनका वरदहस्त मुझे न प्राप्त हुआ होता तो न तो मैं

इस विश्वविद्यालय की छात्रा ही होती और न ही प्रस्तुत शोध कार्य की आधारशिला तैयार हो पाती।

मैं धन्यवाद करती हूँ मेरे अनुज दीपक का, जिसके प्रति स्नेह ने न केवल मुझे समय-समय पर मानसिक संबल प्रदान किया अपितु उसकी अपेक्षा पर खरा उतरने हेतु निरन्तर प्रयास करने की शक्ति भी प्रदान की।

मैं अपनी मित्र प्रियंका पारीक का भी आभार प्रकट करती हूँ, जिसके मार्ग दर्शन से मुझे सदैव कठिन परिस्थितियों में धैर्य और मानसिक शक्ति मिलती रही है। साथ ही मैं केन्द्र की छात्रा और मेरी सहपाठी मित्र वन्दना उपाध्याय का भी विशेष आभार प्रकट करती हूँ, जिसने प्रत्यक्ष रूप से शोध - कार्य में मेरा सहयोग किया।

अपने केन्द्र के वरिष्ट छात्रों में मणिशंकर जी और प्रवीण जी का भी आभार प्रकट करती हूँ, जिनका अपेक्षित सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। साथ ही केन्द्र के पूर्व छात्र प्रचेतस के प्रति भी आभार प्रकट करती हुयी उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ। अन्त में शोधार्थिनी उन सभी का आभार प्रकट करती है, जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोध कार्य को पूर्ण करने में सहयोग प्रदान किया।

शोधार्थिनी

ममता स्नेही

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ सं.
▪ **कृतज्ञता ज्ञापन**	**i-iii**
▪ **विषयानुक्रमणिका**	**iv-viii**
▪ **सङ्केताक्षरसूची**	**ix-xi**
▪ **भूमिका**	**xii-xvii**
▪ **प्रथम अध्याय-**	**1-31**
▪ **अद्वैत वेदान्त में भाषा चिन्तन**	
○ **वैदिक वाङ्मय में भाषातत्त्व**	2-4
○ **शब्दाद्वैतवाद**	5-7
○ **अर्थाद्वैतवाद**	7-12
○ **शंकराचार्य के अनुसार वाक्यार्थ निर्धारण**	12-22
○ **पञ्चप्रक्रिया प्रकरणग्रन्थ की प्रकृति और विषयवस्तु**	22-23
○ **ग्रन्थकार सर्वज्ञात्ममुनि का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्त्व**	23-24
○ **पञ्चप्रक्रिया और संक्षेपशारीरक ग्रन्थों की समानता**	24-25
○ **सर्वज्ञात्ममुनि का तिथि निर्धारण**	25-26
○ **अद्वैत वेदान्त में तत्त्वमीमांसा और पराविद्या**	26
○ **शंकर, सुरेश्वर और सर्वज्ञात्मन् के कर्तृत्व में पराविद्या**	26-30
○ **शंकर, सुरेश्वर और सर्वज्ञात्मन् में अज्ञानाश्रय की समस्या**	30-31
▪ **द्वितीय अध्याय –**	**32-71**
▪ **शब्दवृत्ति का विवेचन**	
○ मूल ग्रन्थ -१	32
○ अनुवाद -१	32-33

- विश्लेषण -१ 33-46
  - प्रसिद्धि वृत्ति (१.१) – 36-38
  - वाचक शब्द का स्वरूप (१.२)- 38-42
  - लक्षणा वृत्ति (१.३)– 42-45
  - गुणवृत्ति (१.४)– 45-46
- मूल ग्रन्थ -२ 46
- अनुवाद -२ 47
- विश्लेषण -२ 47-49
  - **जहल्लक्षणा (२.१) –** 48
  - **अजहल्लक्षणा (२.२) –** 48
  - **जहदजहल्लक्षणा (२.३) -** 48-49
- मूल ग्रन्थ -३ 49
- अनुवाद -३ 49-50
- विश्लेषण -३ 50-57
- मूल ग्रन्थ -४ 58
- अनुवाद -४ 58-59
- विश्लेषण -४ 59-67
- मूल ग्रन्थ -५ 67
- अनुवाद -५ 68
- विश्लेषण -५ 68
- मूल ग्रन्थ -६ 68
- अनुवाद – ६ 68
- विश्लेषण -६ 68-71

- **तृतीय अध्याय –** **72-91**
- **अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य का अर्थ – निर्धारण**
  - मूल ग्रन्थ -१ 72

- अनुवाद – १ 72-73
- विश्लेषण -१ 73-77
- मूल ग्रन्थ -२ 77
- अनुवाद – २ 77-78
- विश्लेषण -२ 78-80
- मूल ग्रन्थ -३ 80-81
- अनुवाद – ३ 81-82
- विश्लेषण -३ 82-90
- मूल ग्रन्थ -४ 91
- अनुवाद – ४ 91
- विश्लेषण -४ 91

- **चतुर्थ अध्याय – 92-110**
- **तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ – निर्धारण**
  - मूल ग्रन्थ -१ 92
  - अनुवाद – १ 92-93
  - विश्लेषण -१ 93-95
  - मूल ग्रन्थ -२ 95
  - अनुवाद – २ 95-96
  - विश्लेषण -२ 96-103
  - मूल ग्रन्थ -३ 103
  - अनुवाद – ३ 103
  - विश्लेषण -३ 104-105
  - मूल ग्रन्थ -४ 105
  - अनुवाद – ४ 106
  - विश्लेषण -४ 106-107

- **पञ्चम अध्याय –** **110-127**
- अवान्तर वाक्यों का निरूपण-
    - मूल ग्रन्थ -१ 110
    - अनुवाद – १ 110
    - विश्लेषण -१ 111-112
    - मूल ग्रन्थ -२ 112-113
    - अनुवाद – २ 113-114
    - विश्लेषण -२ 114-119
        - सृष्टिपरक अवान्तर वाक्य (२.१) 116
        - स्थितिपरक अवान्तर वाक्य (२.२) 116
        - लयपरक अवान्तर वाक्य (२.३) 116-117
        - प्रवेशपरक अवान्तर वाक्य (२.४) 117
        - नियमनपरक वाक्य (२.५) 117-118
        - स्वरूप लक्षण (२.६) 118-119
        - तटस्थ लक्षण (२.७) 119
    - मूल ग्रन्थ -३ 119-120
    - अनुवाद – ३ 120-121
    - विश्लेषण -३ 121-125
    - मूल ग्रन्थ -४ 125
    - अनुवाद – ४ 125-126
    - विश्लेषण -४ 127
- **षष्ठ अध्याय–** **128-155**
- **बन्धन – मोक्ष निरूपण**
    - मूल ग्रन्थ -१ 128
    - अनुवाद – १ 129

- विश्लेषण -१ 128
- मूल ग्रन्थ -२ 133
- अनुवाद – २ 133
- विश्लेषण -२ 134
- मूल ग्रन्थ -३ 137
- अनुवाद – ३ 138
- विश्लेषण -३ 138
- मूल ग्रन्थ -४ 140
- अनुवाद – ४ 141
- विश्लेषण -४ 142
- मूल ग्रन्थ -५ 145
- अनुवाद – ५ 146
- विश्लेषण -५ 148
- मूल ग्रन्थ - ६ 151
- अनुवाद – ६ 151
- विश्लेषण -६ 152
- मूल ग्रन्थ - ७ 153
- अनुवाद – ७ 154
- विश्लेषण -७ 155

उपसंहार **156-162**

सन्दर्भग्रन्थसूची **163-170**

सङ्केताक्षरसूची

- ई.उ. - ईशावास्योपनिषद्
- उ.सा. - उपदेशसाहस्री
- ऐ.उ. - ऐतरेयोपनिषद्
- ऐ.उ.शा.भा. - ऐतरेयोपनिषच्छाङ्करभाष्यम्
- ऐ.ब्रा. - ऐतरेय ब्राह्मणम्
- ऋग्. - ऋग्वेद
- क.उ. - कठोपनिषद्
- क.उ.भा. - कठोपनिषद्भाष्यम्
- का.प्र. - काव्यप्रकाश
- काव्या. - काव्यादर्श
- कारिका. - कारिकावली
- केन.उ. - केनोपनिषद्
- कैवल्य.उ. - कैवल्योपनिषद्
- को.उ. - कोषितकीयोपनिषद्
- गी.शा.भा. - गीताशांकरभाष्यम्
- छा.उ. - छान्दोग्योपनिषद्
- छा.उ.शा.भा - छान्दोग्योपनिषच्छाङ्करभाष्यम्
- त.सं. - तर्कसंग्रह
- त.सं.दी. - तर्कसंग्रहदीपिका
- तै.उ. - तैत्तिरीयोपनिषद्
- तै.उ.शा.भा. - तैत्तिरीयोपनिषच्छाङ्करभाष्यम्
- तै.ब्रा. - तैत्तिरीयब्राह्मणम्

- तै.सं. - तैत्तिरीयसंहिता
- द.मू.स्तो. - दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्
- न्या.को. - न्यायकोश
- न्या.सू. - न्यायसूत्र
- नव्य.भा.प्र. - नव्यन्यायभाषाप्रदीप
- ना.पु. - नारदपुराण
- नै.सि. - नैष्कर्म्यसिद्धिः
- न्या.सि.मु. - न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
- प.द. - पञ्चदशी
- प.प्र. - पञ्चप्रक्रिया
- प.ल.म. - परमलघुमञ्जुषा
- पृ. - पृष्ठ
- बृ.उ. - बृहदारण्यकोपनिषद्
- बृ.उ.भा.वा. - बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक
- बृ.उ.शा.भा. - बृहदारण्यकोपनिषच्छाङ्करभाष्यम्
- ब्र.सू.अ.भा. - ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्यम्
- ब्र.सू.शा.भा. - ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्
- भ.गी. - भगवद्गीता
- महा.भा - महाभारत
- म.भा. - महाभाष्यम्
- मु.उ. - मुण्डकोपनिषद्
- यजु. - यजुर्वेद
- लघु.सि.कौ. - लघुसिद्धान्तकौमुदी
- लै.ए.री. - लैंग्वेज एण्ड रीलीज
- वा.प. - वाक्यपदीयम्
- वा.वृ. - वाक्यवृत्तिः

- वि.च. - विक्रमचरित
- वि.चू. - विवेकचूडामणि
- वे.प. - वेदान्तपरिभाषा
- वे.सा. - वेदान्तसार
- वे.सा.तत्त्व.पा. - वेदान्तसारतत्त्वपारिजात
- वे.सा.वि.म. - वेदान्तसारविद्वन्मनोरञ्जनी
- वै.सू. - वैशेषिक सूत्र
- सा.द. - साहित्यदर्पण:
- सं.शा. - संक्षेपशारीरकम्
- शं.अ.वे. - शंकर का अद्वैतवेदान्त
- शत.ब्रा. - शतपथब्राह्मणम्
- शां.वे.अर्थ.सि.अ. - शांकरवेदान्त में अर्थनिर्धारण सिद्धान्तों का अध्ययन
- हस्त. - हस्तामलक

भूमिका

इत: पूर्णं तत: पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम् ।

पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ॥

भारतीय चिन्तन परम्परा में अद्वैतवाद का सिद्धान्त अति प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण है । अद्वैत विषयक विचार समस्त संस्कृत वाङ्मय में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं और इसे सैद्धान्तिक रूप से सुव्यवस्थित रूप आचार्य शङ्कर ने प्रदान किया । भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनेकता में एकता के दर्शन कर लिये थे । सृष्टि की समस्त विविधता के पीछे एकता है, जिससे उसका उद्भव हुआ है और जिसमें उसे समा जाना है – "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते . . . ." । इस तथ्य को भी उन्होंने हृदयंगम कर लिया था कि परमार्थत: वस्तु एक है, उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है – 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' । जीवन और दर्शन दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है । उस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिये ही सभी भारतीय दर्शन तत्पर रहें है । "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन्..... इत्यादि श्रुति वाक्य ही अद्वैतवेदान्त की पूर्णता, अखण्डता तथा सामरस्य के परिचायक हैं और यही अद्वैत का स्वरूप भी है ।

शाङ्कर वेदान्त दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है - ब्रह्मज्ञान । ब्रह्म को वेदान्त-परम्परा में अवाङ्मनसगोचर कहा गया है, अतः ब्रह्मज्ञान के लिये वस्तुतः किसी भाषा की सहायता नहीं ली जा सकती तथापि शास्त्रचर्चा एवं उपदेश का विषय बनाते हुये इसमें भाषिक संरचना का समावेश कराया गया है । शङ्कराचार्य स्वयं इसे उपनिषद् के महावाक्यों द्वारा अभिहित करने का आख्यान करते हैं ।

उपनिषद् ब्रह्मविद्या का आदिस्त्रोत है, जिसका मुख्य उद्देश्य ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करना है। उपनिषद् में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया है – "**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह.....**" **(तै.उप.२/४/१),** वही इसमें भाषा के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ – लक्षण का भी प्रतिपादन किया गया है – **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"(बृ.उप. ३/९/२८), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.उ.२/१/१)** इत्यादि। इस प्रकार **'मनसैवेदमाप्तव्यम्', 'यन्मनसा न मनुते'** इत्यादि परस्पर विरुद्ध श्रुति-वाक्य उपनिषद् में दिखायी देते हैं। इन्द्रियातीत ब्रह्म के प्रतिपादन में भाषा का क्या महत्त्व है, जिसके प्रतिपादन में शङ्कर एवं उत्तरोत्तर आचार्यों द्वारा अनेक भाष्य, प्रकरण इत्यादि ग्रन्थ लिखे गये। यद्यपि वे इस बात से पूर्णतः अभिज्ञ हैं कि यह केवल और केवल अनुभव का विषय है – **"अनुभवावसानत्वात्"** (ब्रह्मसूत्र, अध्यासभाष्य)।

वस्तुतः अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण भाषा के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव तो नहीं, फिर भी यथार्थ तत्त्व के प्रतिपादन में शास्त्र को ही अन्तिम प्रमाण माना गया है। ऋषियों का अतीन्द्रिय तत्त्वानुभव ही श्रुत्यात्मक शास्त्र के रूप में प्रकट हुआ। अविद्यानिवृत्ति एवं स्वस्वरूपानन्दावाप्ति – ये दो वेदान्त के परम प्रयोजन हैं, जिसमें ब्रह्म सम्बन्धी अविद्यानिवृति शास्त्रज्ञान से ही सम्भव है – **" शास्त्रं हि प्रत्यगात्मनि अविद्याध्यारोपितमतद्धर्मं निवर्तयत्येव केवलम्, न तु तं कर्मी करोति" (पञ्चप्रक्रिया)।**

ऋषिसंभूत अनुभव वाक्यों का समुचित विश्लेषण ही शाङ्कर वेदान्ताचार्यों का प्रमुख ध्येय रहा है और इस दृष्टि से अनेक भाष्य, टीका, वृत्ति, प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की गई। इस सन्दर्भ में प्रथम प्रयास आचार्य शङ्कर-कृत *वाक्यवृत्ति* है, जो **'तत्त्वमसि'** वाक्यार्थ प्रतिपादक मुख्य प्रकरण-ग्रन्थ है।

सामान्यतः शब्दार्थ-निर्धारण के क्षेत्र में न्याय, मीमांसा एवं व्याकरण शास्त्रों की विशेष ख्याति है। इन सभी ने स्वतत्त्वानुरूप भाषिक-विश्लेषण के कार्य को सुसम्पादित किया। शाङ्कर

वेदान्ताचार्यों ने भी व्यावहारिक एवं पारमार्थिक लक्ष्यों के अनुरूप भाषिक-विश्लेषण के कार्य को प्रस्तुत किया है।

परमार्थतः शाङ्कर वेदान्तियों का एक मात्र प्रमेय 'ब्रह्म' है, जो अनिर्वचनीय है तथापि ब्रह्मवेता सद्गुरु अज्ञानदशापन्न ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिये ब्रह्म को अनिर्वचनीयता की परिधि में लाकर अध्यारोप-अपवाद विधि से इसका बोध कराते हैं।

ब्रह्म की निर्वचनीयता अखण्डाकाराकारित –चित्तवृत्ति होने से पूर्व तक ही है। भाषिक-विश्लेषण के द्वारा स्वरूप-तटस्थ-लक्षणात्मक ब्रह्म का ज्ञान सम्भव है, जो उपनिषदीय महावाक्यों से उपदिष्ट है। महावाक्य से तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप वस्तु के प्रतिपादन से है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि महावाक्यों से जन्य अखण्डाकाराकारित-वृत्ति के उदय होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, जो श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि से सम्भव है।

महावाक्यार्थ का बोध अभिधा से नहीं हो सकता। लक्षणा का एक विशिष्ट भेद, जो जहदजहल्लक्षा के रूप में महावाक्यों को विश्लेषित करता है, इस सम्प्रदाय का विशिष्ट अन्वेषण है। महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में वेदान्त परम्परा में कई ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु शाङ्कर वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान् ' सर्वज्ञात्ममुनि' कृत *"पञ्चप्रक्रिया"* नामक प्रकरण- ग्रन्थ का इन सभी में विशेष योगदान है, जो कि संक्षिप्त, सुस्पष्ट एवं बोधगम्य है तथा महावाक्य एवं अवान्तर वाक्य के अर्थ-निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी समर्थ है। पारमार्थिक ज्ञान भाषा के द्वारा कैसे हो, इसका मुख्य चिन्तन इस ग्रन्थ में है। वर्तमान समय में इस ग्रन्थ पर आनन्दज्ञान एवं पूर्णविद्यामुनि कृत दो संस्कृत टीकायें उपलब्ध है, जो कि मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग द्वारा 1946 में 'Bulletins of the Sanskrit Department No-4' में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त Ivan Kocmarek कृत 'Language and Release' नामक पुस्तक अंग्रेजी भाषा में विस्तृत भूमिका, अनुवाद एवं टिप्पणी के साथ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण अभी तक उपलब्ध नहीं होने के कारण नितान्त अपेक्षित है,

जिसका सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुतीकरण निश्चित रूप से शास्त्रार्थ-निर्धारण में सहायक सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ पर अद्यावधि कोई भी हिन्दी-अनुवाद या टीका शोधार्थिनी को दृष्टिगोचर नहीं हुई है। सर्वज्ञात्ममुनि की इस अनवद्य कृति पर हिन्दी भाषा में अनुवाद एवं विश्लेषण होने से, यह ग्रन्थ सामान्य पाठकों के लिये बोधगम्य हो जायेगा ।

सर्वेक्षण (Existing research in this area)

- Kocmarek, Ivan, "Language and Release" Sarvajnatman's pancaprakriya, Motilal Banarasidass, 1985.
- Das, Ganesh Prasad , "Advaita Vedanta and Linguistic Analysis" Hoshiyarpur, vishweshwaranand Indological Journal, 24.1,1987, PP.101-108.
- Elayath, K.A. Neelkantan, "The Advaita Theory of Meaning" Madras, Adyar Library Bulletin, 52, 1988, PP.94-104.
- Gupta, Bina and William C.Wilcox, "Tat Tvam Asi : An Important Identity Statement or a mere Tautology" , Honolulu, Philosophy East and West, 34,1994, PP. 85-94.
- Raja, K. Kunjunni, "Indian Theories of Meaning"-Chennai, The Adyar Library And Research centre, Rpt.2000
- Ramaiah, G.Sundara , "Language, Sentencea and Brahman in Advaita Vedanta",The Voice of Sankara, Kancheepuram, Tamilnadu,1988, PP. 117-124.
- Sharma, B.R. "Relation of Language and Reality in Advaita Vedanta" Glory of Knowledge, PP.146-155.
- Upadhyaya, S.A. "Tat Tvam Asi : According to Prakasananda", Proceedings Of The Winter Institute on Ancient Theories on Sentence - Meaning, Edited by S.D.Joshi, Pune, University of Poona,1980 PP. 195-202.

उपर्युक्त शोधकार्यों से प्रस्तुत शोधकार्य की विशिष्टता

(In what way this research is going to be different from existing work in this area)

उपर्युक्त शोधकार्यों से यह ज्ञात होता है कि यद्यपि महावाक्यों के सन्दर्भ में अनेकविध कार्य किये गये हैं, तथापि यह शोधकार्य उन सभी से विशिष्ट है, क्योंकि भाषिक-विश्लेषण की दृष्टि से 'पञ्चप्रक्रिया' ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण के साथ-साथ तात्त्विक विवेचन भी किया गया है । इस ग्रन्थ पर अद्यावधि कोई भी हिन्दी-अनुवाद या टीका शोधार्थिनी को दृष्टिगोचर नहीं हुई है, यद्यपि इस पर एक अंग्रेजी-अनुवाद एवं दो संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं । सर्वज्ञात्ममुनि की इस अनवद्य कृति पर हिन्दी भाषा में अनुवाद एवं विश्लेषण होने से, यह ग्रन्थ सामान्य पाठकों के लिये बोधगम्य हो जायेगा ।

प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य इस ग्रन्थ के विश्लेषणात्मक अध्ययन के अतिरिक्त इसका हिन्दी अनुवाद भी करना है । इस ग्रन्थ के पाँच प्रकरण है, जिन्हें शोधकार्य में अध्याय-विभाजन का आधार बनाया गया है । प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध मुख्य उद्देश्यों के रूप में निम्नलिखित बिन्दुओं को आधार बनाकर किया गया है –

1. अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से शब्द-शक्ति का विश्लेषण ।
2. पञ्चप्रक्रिया के अनुसार वेदान्त का परम प्रयोजन ।
3. गुरु एवं अधिकारी का वर्णन, साथ ही जीवन्मुक्त की स्थिति ।
4. उपदेश वाक्य के अर्थ-निर्धारण का ग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुतीकरण ।
5. उपनिषदीय महावाक्यों में स्थित पदों के अर्थ का निर्धारण उपनिषद् के वाक्यों के आधार पर ही किस प्रकार सम्भव है, इसका प्रस्तुतीकरण ।
6. ग्रन्थ के आधार पर अविद्या, जीव तथा बन्धन एवं मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन ।

शोधप्रविधि (Research Methodology) -

यह शोधकार्य विश्लेषणात्मक प्रविधि से किया गया है, जिसमें मुख्य रूप से शाङ्कर वेदान्त के ग्रन्थों को आधार बनाया गया है । पञ्चप्रक्रिया की भाषा एवं तात्पर्य दोनों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी-अनुवाद करने का प्रयास किया गया है । प्रस्तुत शोधकार्य में

निम्नलिखित बिन्दुओं को प्राथमिकता देते हुए एवं इनकी सहायता लेते हुए शोधकार्य को सम्पन्न किया गया है –

1. पुस्तक के अंग्रेजी-अनुवाद का संकलन ।
2. उपलब्ध दो संस्कृत - टीकाओं का संकलन ।
3. मूल ग्रन्थ का अध्ययन एवं हिन्दी-अनुवाद ।
4. उपलब्ध सामग्री का तार्किक रूप से विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण ।
5. आवश्यकतानुसार तुलनात्मक विवेचन ।

प्रस्तुत शोध कार्य में शोधार्थिनी द्वारा किसी नवीन वस्तु की उद्भावना नहीं करके मात्र आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि के शब्दों का ही हिन्दी भाषा में के माध्यम से नवीन नियोजन किया गया है । इस क्रम में शोधार्थिनी ने अद्वैत वेदान्त की भाषा चिन्तन परम्परा, शब्दवृत्तियों का विवेचन, अहं ब्रह्मास्मि और तत्त्वमसि महावाक्यों का अर्थ- निर्धारण, अवान्तर वाक्यों का अर्थ स्पष्टीकरण एवं उनकी उपयोगिता तथा बन्धन - मोक्ष का विवेचन करने का प्रयास किया है । इस विषय में मौलिकता का दम्भ तो शोधार्थिनी के लिये असम्भव है, परन्तु जयन्तभट्ट के शब्दों में यही निवेदन कर सकती है कि –

"कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमा:।
वचो विन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्" ॥

शोधार्थिनी

ममता स्नेही

॥ प्रथम अध्याय ॥

अद्वैत वेदान्त में भाषा-चिन्तन

संसार में अनेक जीव निवास करते हैं, जिनका सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् का व्यावहारिक क्रियाकलाप इसलिये निष्पन्न हो पाता है क्योंकि भाषा रूपी अमूल्य सम्प्रेषणात्मक तत्त्व उन्हें प्राप्त है। मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिये जिस सार्थक साधन को अपनाता है, वह भाषा कहलाती है। चिन्तन, मनन और विचार अभिव्यक्ति का साधन भी भाषा ही है। भाषा ही है, जो एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करती है। यदि मनुष्य के पास भाषा रूपी अमूल्य अस्त्र न होता तो न वह कुछ सोच पाता न ही अपने भावों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर पाता। भाषा के द्वारा ही सम्पूर्ण ज्ञान का आदान-प्रदान भी हो पाता है। भाषा के अभाव में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का ज्ञान भी हम तक नहीं पहुँच पाता क्योंकि वेद भी शब्दराशि ही है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में भाषा को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। भारतीय मनीषियों ने भाषा को अपने चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बनाकर पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है, जिसे बाद के शास्त्रकारों ने अपेक्षित विस्तार प्रदान किया है। वाक्यपदीयकार ने शब्द की महत्ता प्रतिपादित करते हुये लिखा है कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो शब्दानुगम के बिना सम्भव हो –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[1]

काव्यादर्शकार महाकवि ने भी वाक् की महिमा की स्थापना करते हुये कहा है कि वाक् के बिना लोकयात्रा सम्भव ही नहीं हो सकती –

इदमन्धतमं कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।[2]
इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥[1]

---

[1] वा.प. – १.१२३

[2] काव्या – १.१

भाषा के कारण ही मनुष्य इस संसार का सर्वोत्तम प्राणी माना जाता है। वह अपने वाक् चातुर्य के कारण ही ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया हुआ है। भाषा ही है, जो मनुष्य को देवता या दानव बना देती है–

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभि:।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ [2]

1- वैदिक वाङ्मय में भाषातत्त्व-

भाषिक चिन्तन का कार्य अनादि काल से ही चला आ रहा है। वैदिक वाङ्मय में भाषा को वाक् तत्त्व के रूप में अभिहित कर ऋषियों ने इसके प्रत्येक पक्ष पर विचार किया है। वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, निरुक्त, प्रातिशाख्य एवं शिक्षा आदि प्रारम्भिक ग्रन्थों में वाक् तत्त्व का विवेचन पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त ही वाक्-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ पूरे विश्व को वाक् से उत्पन्न और वाक् से ही पुष्पित एवं पल्लवित बताया गया है –

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वदेवै: ।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥[3]

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"– यह प्रसिद्ध उक्ति भी वाक् के सन्दर्भ में ही कही गई है। अर्थात् विद्वान् लोग इसे इन्द्र, मित्र, वरुण, यम आदि कई नामों से पुकारते हैं, तत्त्वत: यह एक ही है-

इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्य: स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु: ॥[4]

---

[1] काव्या. – १.३

[2] ऋग्. – १०.१२५.५

[3] वहीं – १०.१२५.१

[4] ऋग्. – ८.१६४.४६

आदि ग्रन्थों में विवेचित इसी वाक् तत्त्व की अवधारणा को भारतीय दर्शनों ने भाषा-चिन्तन का आधार बनाया । चूँकि हमारे समस्त बोध भाषाबद्ध ही होते हैं और भाषा प्राणी मात्र की उपकारिका है । अत: इसके स्वरूप को समझना भी आवश्यक है । भाषा के स्वरूप को समझने के लिये तीन तत्त्वों पर चिन्तन करना आवश्यक है– शब्द, अर्थ और शब्दार्थ सम्बन्ध । व्यक्ति को अर्थाधिगम शब्द के माध्यम से होता है तथा शब्द और अर्थ को जोड़ने वाला योजक तत्त्व भी अवश्य है तभी शब्द, अर्थ का ज्ञान करवा पाता है ।

भाषा चिन्तन के इस विषय में सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय पर दृष्टिपात करें तो हमें ऋग्वेद में वाक् से साक्षात् सम्बद्ध तीन सूक्त प्राप्त होते हैं– प्रथम मण्डल का 164 वाँ सूक्त (अस्यवामीय सूक्त), दशम मण्डल का 71 वाँ और 125 वाँ (क्रमश: बृहस्पति सूक्त और वाक् सूक्त) । प्रथम मण्डल के अस्यवामीय सूक्त के अनुसार वाक् चार प्रकार की बतायी गयी है तथा वाक् के तीन प्रकारों को अव्यक्त माना गया है, जिन्हें केवल चिन्तनशील ऋषिगण ही जान सकते है और वाक् के चतुर्थ प्रकार 'तुरीय वाक्' के विषय में कहा गया है कि इसे ही मनुष्य बोलते हैं –

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण: ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥[1]

यजुर्वेद में वाक् तत्त्व को सृष्टि का रचयिता मान कर विश्वकर्मा कहा गया है तथा स्पष्टरूप से कहा गया है कि वाक् से ही यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है-

वाग्वै विश्वकर्म ऋषि :[2] तथा वाचा हीदं सर्वं कृतम् ।[3]

ब्राह्मण ग्रन्थों में तो वाक् को ही ब्रह्म कहा गया है तथा उसकी कई प्रकार से व्याख्या की गई है-

वाग्वै ब्रह्म [4] तथा ब्रह्मैव वाच: परमं व्योम ।[5]

---

[1] वहीं - १.१६४.४५
[2] यजु. -१३.५८
[3] शत.ब्रा. – ८.१.२.९
[4] ऎत.ब्रा. ६.३, शत.ब्रा. २.१.४.१०
[5] तै. ब्रा. ३.९.५.५

उपनिषदों में भी वाक् तत्त्व का व्यापक वर्णन प्राप्त होता है । बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि वाक् ही सृष्टि का सम्राट् है, वही परब्रह्म है –

वाग्वै सम्राट परमं ब्रह्म ।[1]

कैवल्योपनिषद् में भी वाक् को ब्रह्म कहा गया है । वाक् ही शिव, अक्षर, परम सम्राट, विष्णु, प्राण, काल, अग्नि, और चन्द्रमा आदि नामों से अभिहित किया गया है । भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों में जो तत्त्व अक्षर है, वह वाक् ही है । वाक् से ही सबकुछ उत्पन्न होता है और उसी में स्थित रहते हुये उसी में लय हो जाता है –

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ।[2]

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि वह एकमात्र अद्वितीय सत् तत्त्व ही नाम और रूप में विभक्त हुआ तथा अपने संकल्प के अनुसार ही नामरूपों का व्याकरण किया अर्थात् यह पदार्थ इस नामवाला और इस रूपवाला है- इस प्रकार पदार्थों का व्यक्तिकरण किया । नाम का तात्पर्य शब्द से तथा रूप का तात्पर्य अर्थ से है और इन्हीं शब्द और अर्थ को अलग-अलग सम्प्रदायों ने ग्रहण कर अपने भाषा सम्बन्धी चिन्तन का आधार बनाया । वैयाकरणों ने शब्द को प्रधानता देकर शब्दाद्वैत की स्थापना की और अद्वैतवेदान्ताचार्यों ने अर्थ को प्रधानता देकर अर्थाद्वैत की स्थापना की ।[3]

2- शब्दाद्वैतवाद-

वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित शब्द विषयक विवेचन को शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, मीमांसा, न्याय और वेदान्त ने अपने भाषा चिन्तन का आधार बनाया ।

---

[1] बृ.उ. ४.१

[2] कैवल्य. उ.,१.१९

[3] " तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्" - छा.,६/३/३

यास्क ने शब्द के अर्थ रूप को आधार बना कर निरुक्त की रचना अर्थ प्रधान दृष्टि से की तथा शब्दों के विभिन्न प्रकार से निर्वचन इस प्रकार से किया कि स्वत: ही अर्थ स्फुटित हो जाता है । वैयाकरणों ने शब्द और अर्थ सम्बन्धी तथ्यों को एक साथ लेकर भाषा का दार्शनिक विवेचन किया । परन्तु इन्होंने शब्द को प्रधानता प्रदान की है । पाणिनि व्याकरण को शब्दशास्त्र की संज्ञा इसीलिये ही दी जाती है क्योंकि इन्होनें अष्टाध्यायी में शब्द (पद) ज्ञान पर ही अधिक बल दिया है । महर्षि पतञ्जलि ने शब्दानुशासन को ही व्याकरण का विषय बनाया तथा भर्तृहरि ने शब्द की दार्शनिक रूप से व्याख्या की तथा शब्दाद्वैतवाद की स्थापना की, जिसे आगे जाकर हेलाराज, नागेशभट्टादि ने अपने विशद विवेचन द्वारा और समृद्ध किया । पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त को पद की संज्ञा दी है अर्थात् कोई भी सुप् या तिङ् अन्त वाला अक्षर समूह पद कहलाता है । जबकि पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में शब्द को गहन रूप से परिभाषित किया- "येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गुलकुकुदखुरविषाणिनां य: सम्प्रत्ययो भवति स शब्द:" अथवा "प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनि: शब्द इत्युच्यते" अर्थात् शब्द वह है, जिससे अर्थबोध होता है और इसे ही स्फोट भी कहा गया है । स्फोट नित्य होता है तथा ध्वनि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है । ये दोनों शब्द के ही रूप है, जिसे शास्त्रीय दृष्टि से स्फोट और लौकिक दृष्टि से ध्वनि कहा गया है । यदि पतञ्जलि के शब्दविषयक मत को सार रूप में कहा जाये तो– स्फोट रूप शब्द नित्य है । इसमें अल्पता, महत्तादि की स्थिति नहीं पायी जाती जबकि ध्वनिरूप शब्द अनित्य है । इसमें अल्पतादि स्थितियाँ देखी जाती हैं । मनुष्यों में स्फोट और ध्वनि दोनों का ग्रहण होता है अर्थात् मनुष्य जो बोलते हैं, वह वर्णात्मक होने से ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं, अत एव अर्थज्ञान होता है जबकि पशु- पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ग्रहण होता है । कहा भी गया है कि-

ध्वनि: स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महाँश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावत: ॥[1]

[1] म.भा.-१.१.७०

आचार्य भर्तृहरि ने तो शब्दतत्त्व को ही शब्दब्रह्म, आदि और अन्त से रहित तथा अक्षर कहा है। इसी का अर्थ के रूप में विवर्त होता है। यह संसार शब्द का ही परिणाम है। सृष्टि के आदि में यह विश्व छन्दोमयी वाणी से ही विकसित हुआ है। भर्तृहरि कहते हैं कि -

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत: ॥[1]
शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नाय: विदो विदु:।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥[2]

वैयाकरण शब्द और अर्थ के मध्य नित्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। महाभाष्यकार ने अर्थ के विषय में कहा है कि समस्त शब्द स्व-स्व अर्थबोधन के लिये होते हैं, जिस - जिस अर्थ के बोध के लिये शब्द का प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ होता है।

"सर्वे भावा: स्वेन भावेन भवन्ति, स तेषां भाव:"।[3]

आचार्य भर्तृहरि के अनुसार जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उसका अर्थ है –

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थ: प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥[4]

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य है- "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" अर्थात् शब्द में अर्थ का बोध कराने की योग्यता नामक शक्ति स्वाभाविक है। जैसे ही शब्द का उच्चारण किया जाता है, वह अर्थ को उपस्थित कर देता है। द्रव्यरूपी अर्थ के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध को ये नित्य कहते हैं[5] क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है और शब्द नित्य है। इसे ही शब्दाद्वैत कहते हैं।

---

[1] वा.प. -१.१
[2] वही-१.१११
[3] म.भा.-५.१.११९
[5] "नित्या: शब्दार्थ सम्बन्धा: समाम्नाता महर्षिभि:। सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभि :" ॥ -१.२३, म.भा.

3- अर्थाद्वैतवाद –

भाषा चिन्तन की प्रक्रिया में व्याकरणशास्त्र ने जिस प्रकार शब्द को ही एकमात्र नित्य तत्त्व स्वीकार किया, उसी प्रकार अद्वैत वेदान्त शब्द के अर्थ रूप को स्वीकार करके इसे ही भाषा चिन्तन का आधार बनाता है । छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि नाम तो विकार मात्र है, सत्य तो अर्थ ही है ।[1] इसी मान्यता के अनुसार यह दर्शन एकमात्र ब्रह्म को ही अर्थ रूप में स्वीकार करता है । यही यहाँ नित्य माना गया है । इसलिये अद्वैत वेदान्त को अर्थाद्वैतवादी भी कहा जाता है । शब्द को यह दर्शन अनित्य स्वीकार करता है । यह तीन प्रकार की सत्ता मानता है- पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक । पारमार्थिक तत्त्व एक मात्र ब्रह्म है । आकाशादि प्रपञ्च समूह व्यावहारिक सत्ताएँ कही गई हैं तथा सुक्ति में रजत की प्रतीति या रस्सी में सर्प की प्रतीति प्रातिभासिक सत्ता मानी गयी है । यहाँ ध्यातव्य तथ्य यह है कि पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान कराने में शब्द समर्थ नहीं है । इसलिये ब्रह्म अर्थ है, पदार्थ नहीं है । न्याय दर्शन भी शब्द को अनित्य स्वीकार करता है तथा पदार्थों को नित्य तथा अनित्य मानता है । यहाँ पदार्थ से तात्पर्य है- 'पदस्य अर्थ:' अर्थात् जिसका ज्ञान पद (शब्द) से हो, वह पदार्थ है ।[2] जो भी पदार्थ होगा, वह ज्ञेय तथा अभिधेय अवश्य होगा तथा शब्द और अर्थ के मध्य स्वाभाविक सम्बन्ध को नैयायिक स्वीकार नहीं करते किन्तु सामयिक या साङ्केतिक सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं ।[3] कणाद ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को साङ्केतिक ही माना है- "सामयिक: शब्दार्थ प्रत्यय:।"[4] आचार्य शङ्कर मिश्र ने उपस्कारभाष्य में सामयिक शब्द की व्याख्या करते हुये कहा है कि- 'इस शब्द से इस अर्थ को समझना चाहिए' इस प्रकार का ईश्वरीय सङ्केत अर्थात् जिस शब्द का जिस अर्थ में परमात्मा ने सङ्केत किया है, वह उस अर्थ का बोध कराता है । इस प्रकार ये शब्दार्थ सम्बन्ध को कृतक मानते हैं । दोनों के मध्य सम्बन्धकर्ता ईश्वर हैं, न कि दोनों में अनादि सम्बन्ध है जैसा कि वैयाकरण और मीमांसक मानते हैं । अत: यहाँ ईश्वर भी पदार्थ है

---

[1]" वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"- ३/१/४, छा.उ.

[2] " ज्ञेयत्वं अभिधेयत्वम् पदार्थ सामान्यलक्षणम् " त. सं.दी.

[3] " सामयिक: शब्दार्थसम्प्रत्ययो न स्वभाविक :" -१.२.५७, न्या.सू.

[4] वै.सू.- ७.२.२०

और शब्द से उसका ज्ञान होता है । जबकि अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म अर्थ तो कहा जा सकता है किन्तु पदार्थ नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह शब्द गम्य नहीं है । उपनिषद् ब्रह्मविद्या का आदिस्त्रोत है, जिसका मुख्य उद्देश्य ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करना है । उपनिषद् में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया है– "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह....."।[1] केनोपनिषद् में भी कहा गया है कि- "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छत नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।"[2]

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥[3]
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥[4]
यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ [5]

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म का ज्ञान न वाणी, न श्रोत्र, न चक्षुष्, न मनस्, न ही प्राणादि के द्वारा सम्भव है । ये स्वयं ब्रह्म के सामर्थ्य से अपना-अपना कार्य करने में सक्षम होते हैं, अत: ब्रह्म तक इनकी पहुँच नहीं है । ब्रह्म इन सभी से परे एक अखण्ड, अद्वय तत्त्व है । अत: अवाङ्मनसगोचर कहा गया है, यह अनिर्वचनीय है । इसी कारण यह पदार्थ नहीं कहा जा सकता । साथ ही यह भी ध्यातव्य है कि यहाँ पर सङ्केतग्रह-विषयक मत भी खण्डित हो जाता है क्योंकि सङ्केतग्रह से केवल जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा का ही ग्रहण हो पाता है और ये चारों ही ब्रह्म में नहीं पाए जाते । ब्रह्म इनसे भी परे है । अत: सङ्केतग्रह से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता ।

---

[1] तै.उ.-२/४/१
[2] केन.उ. -१.३
[3] वही.-१.४
[4] वही.-१.५
[5] वही.-१.५

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन्द्रियातीत ब्रह्म के प्रतिपादन में भाषा का क्या महत्त्व है, जिसके प्रतिपादन में शङ्कर एवं उत्तरोत्तर आचार्यों द्वारा अनेक भाष्य, प्रकरण इत्यादि ग्रन्थ लिखे गये । यद्यपि वे इस बात से पूर्णतः अभिज्ञ हैं कि यह केवल और केवल अनुभव का विषय है –"अनुभवावसानत्वात्।"[1] वस्तुतः अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण भाषा के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार सम्भव तो नहीं, फिर भी यथार्थ तत्त्व के प्रतिपादन में शास्त्र को ही अन्तिम प्रमाण माना गया है । ऋषियों का अतीन्द्रिय तत्त्वानुभव ही श्रुत्यात्मक शास्त्र के रूप में प्रकट हुआ । अविद्यानिवृत्ति एवं स्वस्वरूपानन्दावाप्ति- ये दो वेदान्त के परम प्रयोजन हैं, जिसमें ब्रह्म सम्बन्धी अविद्यानिवृति शास्त्रज्ञान से ही सम्भव है– "शास्त्रं हि प्रत्यगात्मनि अविद्याध्यारोपितमतद्धर्मं निवर्तयत्येव केवलम्, न तु तं कर्मी करोति ।"[2]

अत: अन्य दर्शनों के समान शाङ्करवेदान्त में भी श्रुति वाक्यों का विवेचन उपलब्ध होता है और इसमें अर्थ-निर्धारण एक विशेष प्रक्रिया है, जिसमें वर्ण, पद और वाक्य पर विचार किया जाता है । आचार्य शङ्कर ने वर्ण सम्बन्धी विचार ब्रह्मसूत्रभाष्य के स्फोट-खण्डन के क्रम में तथा तैत्तिरीयोपनिषद्, केनोपनिषदादि भाष्यों में किया है । केनोपनिषद् पर शङ्कर के दो भाष्य उपलब्ध होते हैं, जिनकी प्रसिद्धि पदभाष्य और वाक्यभाष्य के रूप में है । वर्ण, पद और वाक्य ध्वनि रूप हैं । वक्ता और श्रोता दोनों के लिये ध्वनिरूप में ही इनका ग्रहण और सम्प्रेषण होता है। योगियों के लिये ध्वनिरूप शब्द के बिना भी अर्थ का ग्रहण और सम्प्रेषण हो पाता है । दक्षिणामूर्तिस्तोत्र का एक श्लोक इसमें प्रमाण है –

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धा शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसंशया: ॥[3]

बृहदारण्यकोपनिषद् पर भाष्य करते हुये शंकराचार्य ने वाणी की ज्योतिरूपता की व्याख्या करते हुये कहा है कि "शान्तेऽग्नौ वाग्ज्योति: वागिति शब्द: परिगृहते, शब्देन विषयेण

[1] ब्र.सू.अ.भा., पृ०- १३
[2] प.प्र. , पृ०-१२८
[3] द. मू. स्तो. ,१२

श्रोत्रेन्द्रियं दीप्यते,सम्प्रदीप्ते मनसि विवेक उपजायते तेन मनसा बाह्यां चेष्टां प्रतिपद्यते, मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति"[1] अर्थात् वाक् ज्योति है। 'वाक्' इस शब्द से शब्द का ग्रहण किया जाता है, शब्दरूप विषय से श्रोत्रेन्द्रिय दीप्त होती है, श्रोत्रेन्द्रिय के सम्यक् प्रकार से दीप्त होने पर मन में विवेक उत्पन्न होता है तथा जीव मन से बाह्य चेष्टा का अनुभव करता है, मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है।

पुरुष वाणी रूप ज्योति से अनुगृहित होकर व्यवहार करता है, इसलिये वाणी का ज्योति होना प्रसिद्ध है। जिस समय वर्षा काल में मेघ के अन्धकार में प्राय: समस्त ज्योतियों के अस्त हो जाने पर बाह्य ज्योतियों का अभाव होने से जहाँ-जहाँ वाणी का उच्चारण होता है, कुत्ता भौंकता है या गधा रेंकता है, वहीं उसके समीप पुरुष चला जाता है। उस शब्द रूप ज्योति से श्रोत्र और मन की निरन्तरता हो जाती है। इससे वाक् ज्योति कार्यता को प्राप्त हो जाती है।[2] शंकर ने गीताभाष्य में शब्दों के चतुर्विध संकेत ग्रहण का सोदाहरण वर्णन किया है। अर्थ का प्रकाश करने के लिये वक्ता द्वारा बोले जाने वाले और श्रोता द्वारा सुने जाने वाले सभी शब्द जाति, क्रिया, गुण, और सम्बन्ध द्वारा संकेत ग्रहण करवा कर ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं। जैसे- गाय या अश्व यह जाति से, पकाना या पढाना यह क्रिया से, सफेद या काला यह गुण से और धनवान् या गाय वाला यह सम्बन्ध से शब्द का बोध कराता है। अर्थात् शब्द चार प्रकार के होते हैं –जातिरूप, गुणरूप, क्रियारूप एवं सम्बन्धरूप।[3]

शङ्कराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् पर भाष्य करते हुये वाक् की गायत्रीरूपता एवं सर्वभूतात्मकता की व्याख्या करते हुये कहा है कि वाक् ही यह सब भूत समुदाय है क्योंकि शब्दरूपात्मक यह वाक् ही समस्त भूतों का गान अर्थात् नामोल्लेख पूर्वक निर्देश करती है। जैसे- 'यह गाय है' और 'यह अश्व है' आदि तथा यही त्राण अर्थात् रक्षा करती है। जैसे- 'इससे मत

---

[1] बृ.उ.१.५.३, बृ.उ.शा.भा.४.३.४

[2] " अयं पुरूषो व्यवहरति, तस्मात् प्रसिद्धमेतत् वाचो ज्योतिष्टवम्, कथम् ? अपि यत्र यस्मिन् काले प्रावृषि प्रायेण मेघान्धकारे सर्वज्योति: प्रत्यस्तमये स्वोऽपि पाणिर्हस्तो न विस्पष्टं निर्ज्ञायते अथ तस्मिन् काले सर्वचेष्टानिरोधे प्राप्ते बाह्यज्योतिषोऽभावाद् यत्र वागुच्चरित, श्वा वा भषति, गर्दभो वा रौति,उपैव तत्र न्येति , तेन शब्देन ज्येतिषा श्रोत्रमनसोर्नैरन्तर्य भवति, तेन ज्योतिष्कार्यत्वं वाक् प्रतिपद्यते तेन वाचा ज्योतिषोपन्येत्येव उपगच्छत्येव तत्र संनिहितो भवतीत्यर्थ: -४.३.५, वृ.उ.शां.भा.

[3] "सर्वो हि शब्द: अर्थप्रकाशनायप्रयुक्त: श्रूयमाण: च श्रोतृभि: जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण संङ्केतग्रहणसव्यपेक्ष अर्थं प्रत्ययायति। तद् यथा गौ: अश्व इति वा जातित:, पचति पठति इति वा क्रियात: , शुक्ल: कृष्ण: इति वा गुणत:, धनी गोमन् इति वा सम्बन्धत:" -८.१२, गी.शां.भा. पृ०- ११८

डरो' और 'तुझे क्या भय उत्पन्न हुआ है'? आदि वाक्यों के द्वारा सब ओर से भय से निवृत्त किये जाने पर वाणी के द्वारा मनुष्य की रक्षा की जाती है।[1]

साथ ही आचार्य शङ्कराचार्य का यह भी मानना है कि शब्दों का सम्बन्ध आकृति के साथ होता है व्यक्ति के साथ नहीं। शङ्कराचार्य कहते हैं कि गौ आदि शब्द, उनका अर्थ और उन दोनों का सम्बन्ध नित्य देखा गया है। गौ आदि व्यक्ति के उत्पत्ति एवं विनाशशील होने पर भी उनकी आकृति को उत्पत्ति और विनाशशील नहीं माना जा सकता, क्योंकि द्रव्य, गुण और कर्म की व्यक्ति उत्पन्न होती है, आकृति नहीं। शब्दों का सम्बन्ध आकृति के साथ होता है व्यक्ति के साथ नहीं, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं, अनन्त व्यक्तियों के साथ शक्तिग्रह नहीं हो सकता। अत: उत्पत्ति-विनाशशील व्यक्तियों में भी आकृति नित्य है। अत: देवादि व्यक्ति को उत्पत्तिशील मान लेने पर भी आकृति के नित्य होने से वैदिक वसु आदि शब्दों में कोई विरोध नहीं है। देव आदियों की आकृति विशेष मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास आदि के आधार पर माननी चाहिये। स्थान विशेष और सम्बन्ध को लेकर उन स्थानापन्न व्यक्तियों के लिये इन्द्रादि शब्दों का प्रयोग वैसे ही होता है जैसे सेनाध्यक्ष पद पर आसीन व्यक्ति को सेनापति शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं, उस व्यक्ति के मर जाने पर भी दूसरा व्यक्ति जब उस सेनाध्यक्ष पद पर आता है तो उसके लिये भी सेनापति शब्द का ही व्यवहार करते हैं। इसलिये जो जो इन्द्रादि पदों पर आरूढ़ होता है, वह सब इन्द्रादि शब्द से ही कहा जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है।[2]

---

[1] " वाग्वा इदं सर्वं भूतं। यस्माद्वाक्शब्दरूपा सती सर्वं भूतं गायति शब्दयत्यसौ गौरसावश्व इति च, त्रायते च रक्षत्यमुष्मान्मा भैषी:, किं ते भयमुत्थितम्, इत्यादिना सर्वतो भयान्निवर्त्यमानो वाचा त्रात: स्यात् "-३.१२.१, छा.उ.शां.भा. पृ० १८७

[2] " न गवादिशब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वदर्शनात्। न हि गवादिव्यक्तीमामुत्पत्त्वे तदाकृतीनामप्युत्पत्तिमत्त्वं स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणां हि व्यक्तय एवोत्पद्यन्ते नाकृतय:। आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभि:। व्यक्तीनामानन्त्यात् सम्बन्धग्रहणानुपपत्ते:। व्यक्तिषूत्पद्यमानास्वप्याकृतीनां नित्यत्वान्नगवादिशब्देषु कश्चिद्विरोधो दृश्यते। तथा देवादिव्यक्तिप्रभावाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्विस्वादिशब्देषु विरोधो इति द्रष्टव्यम्। आकृतिविशेषस्तु देवादीनां मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमादवगन्तव्य: ।स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दा: सेनादिपत्यादिशब्दवत्।

4- शंकराचार्य के अनुसार वाक्यार्थ निर्धारण-

शंकराचार्य का यह स्पष्ट मत है कि मोक्ष का साधन एक मात्र ज्ञान ही हो सकता है । उपदेशसाहस्त्री के प्रारम्भ में ही यह कहा गया है कि अज्ञान ही इस संसार का मूल है । अत: उसका त्याग करना सभी को अभीष्ट है तथा ज्ञान ही अज्ञान की निवृत्ति कराने में समर्थ है, कर्म नहीं क्योंकि कर्म का अज्ञान से कोई विरोध नहीं है और अज्ञान की निवृत्ति (विनाश) के बिना राग-द्वेष का क्षय नहीं हो सकेगा ।[1] मोक्ष का साधनभूत जो ज्ञान है उसके विषय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की गति नहीं है । अद्वैत-वेदान्त एकमात्र शास्त्र को ही इस स्थल पर प्रमाण स्वीकार करता है । आत्मा ऐंद्रिय न होने से प्रत्यक्ष व तन्मूलक प्रमाणों के अयोग्य है । अत: शास्त्र ही आत्मा के विषय में प्रमा दे सकता है । यह ज्ञान शास्त्रीय महावाक्यों से ही उत्पन्न होता है, जो कि जीव-ब्रह्म के अभेद सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति मात्र करता है, न कि साक्षात् ब्रह्मज्ञान करवाता है । आचार्य शंकर कहते हैं कि शब्द से तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होने वाला ज्ञान, किसी विषय का ही हो सकता है । वह अन्यथा अर्थात् निर्विषयक नहीं होगा । इसलिए अहंकर्ता (प्रमाता) को ब्रह्मज्ञान शब्दादि किसी भी प्रमाण से असम्भव है । क्योंकि ब्रह्म तो किसी का विषय नहीं है।[2] वाक्यार्थ निर्धारण की प्रक्रिया में वक्ता और श्रोता ये दोनों तत्त्व बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं क्योंकि वक्ता ने जिस सन्दर्भ में जिस आशय से जो बात कही है, उसे उसी रूप में

ततश्च यो यतस्तत्तत्स्थानमधितिष्टति स स इन्द्रादिशब्दैरभिधीयत इति न दोषो भवति । न चेदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवदुपादानकारणत्वाभिप्रायेणोच्यते" -१.३.२८, ब्र.सू.शां.भा., पृ०- २४७

[1] "विद्यैवाऽज्ञानहानाय न कर्माप्रतिकूलत: । नाज्ञानस्याप्रहाणे हि रागद्वेषक्षयो भवेत्" ॥ ६॥ उ.सा. ,पृ०-४

[2] "संभाव्यो गोचरे शब्द: प्रत्ययो वा न चान्यथा । न संभाव्यौ तदात्मत्वादहंकर्तुस्तथैव च ॥ २४ ॥ तत्वमसिप्रकरणम्, उ.सा., पृ.१९१

जब श्रोता ग्रहण कर पाये, तब ही यथार्थ वाक्यार्थ सम्प्रेषित हो पाएगा।

महावाक्यार्थ निर्धारण के सम्बन्ध में भी वक्ता का अभिप्राय ही ज्ञातव्य है क्योंकि "तत्त्वमसि" के वक्ता ऋषि आरुणि-उद्दालक तथा श्रोता शिष्य श्वेतकेतु है। जब तक श्रोता श्वेतकेतु यह नहीं समझ लेता है कि वक्ता द्वारा कहे हुए वाक्य "तत्त्वमसि" में तत् और त्वम् का वास्तविक अर्थ वक्ता क्या कहना चाह रहे हैं, तब तक वह वक्ता के अभीष्ट अभिप्राय को नहीं समझ सकता। अत: महावाक्य के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए श्रोता को वक्ता का अभिप्राय समझना होगा, साथ ही तत् और त्वम् का अभीष्ट अर्थ भी समझना होगा। इसी को प्रतिपादित करने के लिये शंकर ने वाक्यवृत्ति में चार प्रश्न उपस्थित किए हैं कि (1) जीव कौन है? (2) परमात्मा कौन है? (3) जीव-परमात्मा का तादात्म्य, अभेद कैसे है? तथा (4) महावाक्य जीव-परमात्मा का अभेद कैसे बताता है?[1]

भगवान् शंकराचार्य पारिभाषिक आडम्बरों से दूर रह कर सीधे ढंग से तत्त्व को व्यक्त करने में सिद्धहस्त हैं। कर्ता-भोक्ता जीव है, देहेन्द्रिय संघात में अभिमानी जीव है, स्वयं को परिच्छिन्न समझता हुआ चेतन जीव है, अवस्थात्रय वाला जीव है, पाँच कोशो वाला जीव है– आदि सभी परिभाषायें जीव की हैं और आचार्य ने सभी को स्पष्ट किया है लेकिन यहाँ दृष्टा शिष्य को आत्मानुसंधान में प्रेरित करने के लिये, उपाधि प्राधान्य की अपेक्षा प्रत्यग्प्राधान्य से विचार कराने के लिये वे उत्तर देते हैं कि– 'तू ही जीव है'। शिष्य ने पूछा था कि जीव कौन है ? उसमें आक्षेप भी निहित था। शंकर ने प्रश्न व आक्षेप दोनों को एक ही सरल ढंग से निपटा दिया यह कहकर कि ' तू ही जीव है'। यहाँ 'तू' से किसे कह रहे हैं, इसमें संदेह न रह जाये– क्योंकि कभी गौणात्मा को भी 'तू-मैं' कह सकते हैं। जैसे- देशादि के खिलाड़ी हारते जीतते हैं तो 'तुम

[1] "को जीव: क: परश्चात्मा तादात्म्यं वा कथं तयो:। तत्त्वमस्यादिवाक्यं वा कथं तत् प्रतिपादयेत् ॥ ७॥ वा.वृ., पृ.३१

हारे जीते' ऐसा सारे देशवासियों को कह देते हैं – इसी लिये आचार्य ने स्पष्ट किया कि जो पूछ रहा है, उसे 'तू' कह रहे हैं।

ऐतरेयोपनिषद् में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' महावाक्य है, जिसमें प्रज्ञान शब्द से जीव को कहा है और प्रज्ञान का अर्थ बताया है कि विषयों को जिससे देखते, सूँघते, सुनते, कहते, चखते आदि हैं, वह प्रज्ञान है। जिससे अर्थात् जिस चेतन से; इन्द्रियों द्वारा निकले अन्त:करण की वृत्ति से उपहित चेतन से ही विषय ज्ञान होता है- यह वेदान्त दर्शन में प्रसिद्ध है। उसी तरह यहाँ पूछने वाले को जीव समझाया गया है। बृहदारण्यक (3.4) में प्रश्न उठा है कि व्यक्ति किस प्रकाश में व्यवहार कर सकता है ? कई कोटियों के बाद उत्तर निकला कि आत्मा ही वह प्रकाश है। तब आकांक्षा हुई कि देह-इन्द्रिय आदि सभी आत्मा लगते हैं, प्रकाश किसे कहा जा रहा है? उस पर बताया कि जो यह विज्ञानमय है, बुद्ध्युपाधि वाला है, प्राणों में प्रविष्ट होकर उसे कार्यकारी बनाता है, हृदय में प्रधानत: प्रकट होता है, स्फुरणरूप है, जगने और सोने की अवस्थाओं में आता जाता है, सपना देखता है, मर कर अगले शरीर में जाता है– वही आत्मा है।

इस प्रकार त्वं शब्द का वाच्य अर्थ बताते हुये उसके उस अर्थ का भी प्रदर्शन किया है,,जो महावाक्य में अभिप्रेत है। 'स्फुरण है' तक बताया स्वरूप तो महावाक्य में ग्राह्य है, अवस्था आदि वाला रूप उसी के परिचय के लिये है। देह-इन्द्रिय संघात का साक्षी ही यहाँ जीव शब्द का तात्पर्यार्थ है। संघात से एकमेक हुआ चेतन जीव शब्द का प्राय: समझा जाने वाला अर्थ है, उसी अर्थ का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि मैं संघात से एकमेक नहीं वरन् इसका द्रष्टा हूँ। उस द्रष्टा को ही यहाँ आचार्य ने 'तू ही जीव है' कहा। यहाँ तू ही में 'ही' शब्द का प्रयोग करके सारी उपाधियों का निराकरण किया गया है। जो कुछ मैं 'भी' हो सकता है, वह नहीं अपितु जो

मैं 'ही' हूँ, वह जीव है- यह शिष्य (श्रोता) को समझना है ।[1] श्लोक में 'यस्त्वं पृच्छसि मां, त्वमेव ही जीव:, अन्य: क:' ! यह जब गुरु ने समाधान दिया तो शिष्य ने पूछा 'अहं क:'? जिसका जवाब है–'ब्रह्मैव असि, संशय न' अर्थात् हमसे पूछने वाला 'तू ही जीव है' गुरु ने जब ये कहा तो शिष्य ने प्रश्न किया कि 'मैं कौन हूँ'? तब गुरु ने बताया कि 'तू ब्रह्म ही है' इसमें सन्देह नहीं ।

पूर्व श्लोक में 'जीव और परमात्मा कौन हैं'? ये जो पूछा गया था इसके पीछे भाव यह था कि ये दो पृथक् व्यक्ति हैं । उत्तर में इस भाव की ही त्रुटि व्यक्त करने के लिये स्पष्ट किया कि ये दो नहीं हैं, जो पूछने वाला है वही प्रत्यगात्मा ब्रह्म है । 'मैं' की पूर्ण परीक्षा हो जाए तो वह ब्रह्म ही समझ आता है । अतएव उपदेशसाहस्त्री में भी कहा गया है कि 'अहं' शब्द की जो निष्ठा है, उसी का 'तू स्वरूप है' ।[2] जीव-विचार में सूत्रभाष्य अनेक स्थलों पर यह स्पष्ट करता है कि ब्रह्म ही जीव रूप में प्रतीयमान है ।[3] प्रकृत में आचार्य ने कहा कि 'तू ब्रह्म है' इसमें कोई संशय नहीं क्योंकि भाष्यादि में सभी संशय मिटा दिये गये हैं । जिस अंश के बारे में यह संशय हो कि 'क्या यह मैं हूँ या नहीं हूँ'? वह मैं हो ही नहीं सकता– यह जान लेना चाहिये क्योंकि जिस सच्चिदानन्द के बारे में संशय हो ही नहीं सकता वही 'मैं' हूँ । आत्मा का स्वभाव ही वह है जो संदेहास्पद नहीं होता ।[4]

इतना सुनने के उपरान्त शिष्य कहता है कि हे भगवन् । मुझे अभी तक पदार्थ की भी स्पष्ट जानकारी नहीं हो पायी है तो आप ही बताइये कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस वाक्यार्थ को कैसे समझूँ।

---

[1] " अत्र ब्रूम: समाधानं कोऽन्यो जीवस्त्वमेव हि ।यस्त्वं पृच्छसि मां 'कोऽहं' ब्रह्मैवाऽसि न संशय: ॥ ८॥ वा.वृ., पृ. ३५

[2] "अहंशब्दस्य निष्ठा या ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि ।सैवोक्ता सदसीत्येवं फलं तत्र विमुक्तता ॥ १०१ ॥ उ.सा., तत्त्वमसिप्रकरणम्,पृ. २१९

[3] (क) 'बुद्ध्युपाधिनिमित्तं त्वस्य प्रविभागप्रतिभानम्' -२.३.१७, ब्र.सू.शां.भा.

(ख) 'परमेव ब्रह्म अविकृतम् उपाधिसंपर्कात् जीवभावेन अवतिष्ठते'-२.३.१८, वही,

(ग) 'पर एवैक: सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेन अवस्थित:'- २.३.४७,वही

[4] 'यत्र स्यात् संशयो नासौ ज्ञेय आत्मेति पण्डितै : । न यत: संशयप्राप्तिरात्मनोऽवगतित्वत: ॥ ३.३७॥ नै.सि. , पृ.- १०८

इसे समझने के लिये जो पदार्थ जानने जरूरी हैं, वे आप स्पष्ट कर बताइये ।[1]

तब शिष्य की समस्या को उचित ठहराते हुए गुरु कहते हैं कि इस विषय में कोई मतभेद नही कि वाक्य सुनने पर वाक्य का अर्थ तभी समझ आता है, जब उस वाक्य में आए पदों अभिप्रेत अर्थों का ज्ञान हो ।[2] आचार्य ने स्पष्ट किया कि वाक्यार्थ समझने में पदार्थ-बोध हेतु है । तार्किक उसे व्यापार कहते हैं । प्रकृत में तो अभिप्राय है कि पदार्थज्ञान पर्याप्त कारण है वाक्यार्थज्ञान के लिए । पदार्थों का विवक्षित अर्थ तभी समझा जा सकता है जब पदों का वाक्य में श्रवण हो, अत: पदार्थज्ञान से पूर्व ही महावाक्य तो सुना जा ही चुका है । इसलिये अब वाक्यार्थ के भान के लिये पदार्थज्ञान ही जरूरी है । सारे साधन पदार्थबोध में ही गतार्थ हो जाते हैं । पदार्थज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी अपेक्षित नहीं, यह श्लोक में 'हि' से कहा गया है । 'इह' से तात्पर्य है- मनुष्यलोक में । लोकान्तर में यदि वाक्यार्थ ज्ञान अभिलषित हो तो उपासनादि की अवश्य आवश्यकता होगी, किन्तु यहाँ मनुष्य लोक में तत्त्वज्ञान के लिये केवल पदार्थबोध ही आवश्यक है । उसकी दृढ़ता के लिये भले ही वैराग्य और उपरति की आवश्यकता हो, लेकिन वाक्यार्थबोध के लिये पदार्थज्ञान ही पर्याप्त है ।

अब आचार्य शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं कि अन्त:करण और उसके व्यापारों के साक्षी, चेतन स्वरूप, आनन्दात्मक, सत्य होते हुए तुम स्वयं को क्यों नहीं समझ पा रहे हो ।[3] देहादि को आत्मा समझना छोड़कर तू सत्य, आनन्द, प्रत्यक्, बुद्धिसाक्षी, ज्ञानरूप आत्मा ही मैं हूँ, यह चिन्तन हमेशा करता रह ।[4]

---

[1] "पदार्थमेव जानामि नाद्याऽपि भगवन् स्फुटम् ।अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं प्रतिपद्ये कथं वद ॥ ९ ॥ वा.वृ., पृ. ४१

[2] "सत्यमाह भवानत्र विगानं नैव विद्यते । हेतु: पदार्थबोधो हि वाक्यार्थावगतेरिह ॥ १० ॥ वा.वृ. , पृ. ४३

[3] "अन्त:करणतद्वृत्तिसाक्षी चैतन्यविग्रह: ।आनन्दरूप: सत्य: सन् किं नात्मानं प्रपद्यसे ॥ ११। वही, पृ. ४५

[4] "सत्यानन्दस्वरूपं धीसाक्षिणं बोधविग्रहम् ।चिन्तयात्मतया नित्यं त्यक्त्वा देहादिगां धियम् ॥ १२॥ वहीं , पृ. ५०

शरीर 'मैं' नहीं हूँ– इस विचार को बहुत तरह से कई स्थलों पर समझाया गया है । उपदेशसाहस्त्री में कहा है कि अपना हाथ कटकर अलग हो जाये तो उसमें मैं-बुद्धि न रहने से निर्णय करना चाहिए कि जब अपना विश्लेषण लग भी रहा है, तब भी शरीर मैं नहीं हूँ- इस प्रकार मानना चाहिए। जैसे- गहने हमारा स्वरूप नहीं होते, वैसे ही हमसे सम्बद्ध लगते हुए भी शरीर हमारा स्वरूप नहीं है । ज्ञेयमात्र अनात्मा है; 'मैं' के साथ भी जो ज्ञेय हिस्सा सम्बद्ध प्रतीत होता है, उसे कटे हाथ की तरह अपने से अलग ही समझने की कोशिश करनी चाहिए । महाभूतात्मक होने से, स्थूल होने से, सांश होने से, नियम्य होने से, अज्ञानमय होने से, अनित्य होने से, विकारी होने से, साकार होने से, क्रियावान् होने से– इत्यादि हेतुओं से देह आत्मा नहीं है। अत: देहादि में आत्मबुद्धि छोड़कर सत्यादिरूप आत्मा 'मैं' हूँ, यह ही दीर्घकाल तक चिन्तन करना चाहिए।

शरीरादि 'मैं' नहीं यह निषेधमुख से उपदेश करने के बाद आचार्य वह सत्य प्रकट करते हैं जिससे वह आत्मा समझ आती है अर्थात् शरीर क्योंकि रूपादि वाला है इसलिए वैसे ही आत्मा नहीं जैसे घटादि आत्मा नहीं हैं । पृथ्व्यादि का परिणाम होने के कारण भी घट की तरह ही शरीर भी अनात्मा है ।[1] पुन: शिष्य कहता है कि यदि यह शरीर आत्मा नहीं है तो अब आप आत्मा को इस प्रकार से समझाइये कि वह हाथ में रखे आँवले सा अपरोक्ष हो जाए।[2] इसके बाद शंकराचार्य मन, बुद्धि, इन्द्रियादि में आत्मा का निषेध बतलाकर कहते हैं कि आत्मा वह है जो स्वयं बिना किसी परिवर्तन वाला हुए बुद्धि आदि को वैसे ही संचालित करता है, जैसे कि लोहकणों को चुम्बक संचालित करता है ।[3] घट का प्रकाशक दीपक जैसे घट से अलग ही माना

[1] " रूपादिमान् यत: पिण्डस्ततो नात्मा घटादिवत् ।पृथिव्यादिमहाभूतविकारत्वाच्च कुम्भवत् ॥ १३॥ वा.वृ. , पृ. ५३

[2] " अनात्मा यदि पिण्डोऽयम् उक्तहेतुबलाद् मत: ।करामलकवत् साक्षाद् आत्मानं प्रतिपादय ॥ १४॥ वहीं, पृ. ५४

[3] " अनापन्नविकार: सन्नयस्कान्तवदेव य: । बुद्धयादींश्चालयेत प्रत्यक् सोऽहमित्यवधारय" ॥ वा.वृ.- १९, पृ०२२

जाता है, उसी प्रकार शरीर को ज्ञात बनाने वाला मैं शरीरी उससे अलग हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ ।[1] अप्रकाशक ही प्रकाश से प्रकाशित होता है, ज्ञानभिन्न ही अर्थात् जड़ ही ज्ञान से ज्ञात होता है । शरीर जिसका साक्ष्य है, वह आत्मा शरीर को क्योंकि ज्ञात बनाता है इसलिये शरीरी अर्थात् साक्षी शरीर से अलग है और चेतन अर्थात् ज्ञान रूप है । साक्षिरूप से जिसे लक्षित किया जाता है, वह महावाक्य के त्वं-पद का अभिप्रेत अर्थ बताया गया है क्योंकि आत्मा परिवर्तनशील नहीं है इसी लिये एकरस बोध-स्वरूप ही 'साक्षी होना' कह दिया जाता है ।[2] शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण व अहंकार से अन्य एवं सभी छहों भावविकारों (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, क्षीयते, नश्यति) से रहित जो आत्मवस्तु हैं वही महावाक्य के 'त्वम्' पद से प्रतिपाद्य है।[3] साक्षिता आत्मा को समझने का तरीका भर है, कोई वास्तविक धर्म नहीं हैं । जैसे प्रकाशमात्ररूप सूर्य प्रकाशक भी समझा जाता है, इसी प्रकार आत्मा की साक्षिता है । वह केवल ज्ञान रूप ही परन्तु उसकी सन्निधि में आया प्रपञ्च क्योंकि ज्ञात हो जाता है इसी लिये इस साक्ष्य की अपेक्षा से आत्मा को साक्षी कहा जाता है । देहादि-विलक्षण होने के साथ ही यह अविकारी भी कहा गया है, जिससे कर्ता-भोक्ता या चिदाभास की भी व्यावृत्ति की गई है । इस शोधित अर्थात् उपाधि रूप मल से विविक्त रूप को श्रुति आत्मा कह रही है । अद्वैत वेदान्त में जो भी विरोधाभास प्रतीत होते हैं, वे उपाधि धर्मों के परिप्रेक्ष्य में हीं प्रतीत होते हैं । उपाधिराहित्य से युक्त आत्मा पर दृष्टि रहे तो विरोधाभास नहीं होता है ।

'त्वम्' पद के अर्थ को बतला देने के उपरान्त 'तत्' पद के अर्थ को प्रस्तुत करते हुये वाक्यवृत्तिकार कहते हैं कि सारे संसार के दोष जिसमें निरस्त हो चुके हैं, स्थूल न होना आदि

अजडात्मवदाभान्ति यत्सान्निध्याज्जडा अपि । देहेन्द्रियमन:प्राणा सोहमित्यवधारय" ॥२०॥ वही., पृ०- २३

[1] "घटावभासको दीपो घटादन्यो यथेष्यते । देहावभासको देही तथाऽहं बोधविग्रह:" ॥२३॥ वही., पृ०- २७

[2] "य: साक्षीलक्षणो बोधस्त्वम्पदार्थ: स उच्यते । साक्षित्वमपि बोद्धृत्वम् अविकारितयाऽऽत्मन:" ॥ २६॥ वा.वृ., पृ०- ३४

[3] "देहेन्द्रियमन:प्राणऽहंकृतिभ्यो विलक्षण : । प्रोज्झिताऽशेषषड्भावविकारस्त्वम्पदाभिध:" ॥ २७॥ वही., पृ०- ४०

जिसका परिचायक है, न दिखना आदि जिसके गुण हैं, तम-रूप मल जिससे परे किया जा चुका है, असीम, आनन्द, सत्य, ज्ञानात्मक, सन्मात्रस्वरूप पूर्ण को परमात्मा कहा जाता है ।[1] वेदों द्वारा जिसकी सर्वज्ञता, परम-ईशिता व सम्पूर्ण शक्तिता का समर्थन किया जाता है, जिसे जान लेने पर सभी कुछ जान लिया जाता है अर्थात् मिट्टी को जान लेने पर मिट्टी से बना सब कुछ जान लिया जाता है, अधिष्टानभूत रस्सी को जान लें तो अध्यस्त सर्प, माला, जलधारा आदि सभी कुछ जान लिया जाता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान से सबकुछ जान लिया जाता है ।[2] जिसकी अनन्तता की प्रतिज्ञा कर श्रुति ने उस अनन्तता को सिद्ध करने के लिये सम्पूर्ण प्रपंच को जिसका कार्य बताया है, वह ब्रह्म है । वेदों में जिसके बारे में यह सुना जाता है कि उसने जीव रूप से प्रवेश किया और वही जीवों का नियन्त्रण करता है, वह ब्रह्म है । श्रुति जिसके लिये यह कहती है कि वह कर्मों का फल देने वाला और जीवों से कर्म कराने वाला है, वह ब्रह्म है ।[3]

त्वम् और तत् पदार्थों का अर्थ बताने के उपरान्त आचार्य शंकर कहते हैं कि महावाक्य में प्रतिपादित वाक्यार्थ तत् एवं त्वम् इन दोनों पदार्थों का तादात्म्य ही है ।[4] तादात्म्य को स्पष्ट करने के लिये कहा गया कि महावाक्य में संसर्ग या विशिष्ट को वाक्य का अर्थ मानना संगत नहीं। विद्वानों का मानना है कि महावाक्य का अर्थ अखण्ड एकरस रूप से स्फुरता है ।[5] वाक्यों

---

[1] (अ) निरस्ताशेषसंसारदोषोऽस्थूलादिलक्षण । अदृश्यत्वादिगुणक: पराकृततमोमल: ॥२९॥ वही., पृ०- ४२
(ब) निरस्तातिशयानन्द: सत्य: प्रज्ञानविग्रह: । सत्तास्वलक्षण: पूर्ण परमात्मेति गीयते ॥३०॥ वही ., पृ०- ४३

[2] सर्वज्ञत्वं परेशत्वमं तथा सम्पूर्णशक्तिता । वेदै: समर्थ्यते यस्य तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥ ३१॥ वा.वृ., पृ०- ४४
यत्ज्ञानात् सर्वविज्ञानं श्रुतिषु प्रतिपादितम् । मृदाद्यनेकदृष्टान्तैस्तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥३२॥ वही., पृ०- ४५

[3] यदानन्त्यं प्रतिज्ञाय श्रुतिस्तत्सिद्धये जगौ । यत्कार्यत्वं प्रपंचस्य तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥३३॥ वही, पृ० – ५९
जीवात्मना प्रवेशश्च नियन्तृत्वं च तान् प्रति । श्रूयते यस्य वेदेषु तद् ब्रह्मेत्यवधारय ॥३५॥ वही, पृ०-६०
कर्मणा फलदातृत्वं यस्यैव श्रूयते श्रुतौ । जीवानां हेतुकतृत्वं तद ब्रह्मेत्यावधारय ॥३६॥ वही. ,पृ०-६२

[4] तत्त्वंपदार्थौ निर्णीतौ वाक्यार्थश्चिन्त्यतेऽधुना । तादात्म्यमत्र वाक्यार्थ: तयोरेव पदार्थयो: ॥३७॥ वही., पृ०- ७२

[5] संसर्गौ वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नाऽत्र संगत: । अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मत: ॥ ३८॥ वही, पृ०- ७४

के अर्थ तीन प्रकार के बतलाए गये हैं –

1- पदार्थों का सम्बन्ध वाक्य का अर्थ होता है। जैसे– 'नीला कमल है' में नील-पद के अर्थ और कमल पद के अर्थ का सम्बन्ध वाक्य से समझ आता है। ऐसे सम्बन्ध को संसर्ग कहा जाता है।

2- वाक्य से ऐसा पदार्थ ज्ञात होता है, जिसका विशेषण कोई न कोई सम्बन्ध होता है, जैसे- 'गाय लाओ' में कर्तव्य पता चलता है, जिसका विशेषण गवानयन है।

3- वाक्य से जो अर्थ ज्ञात होता है, उसमें न कोई सम्बन्ध होता है, न कोई विशेषण होता है, बल्कि जिस प्रकार केवल प्रातिपदिक का अर्थ भासता है, उसी प्रकार ही यहाँ वाक्यार्थ भासता है। ऐसे वाक्यार्थ को अखण्ड वाक्यार्थ कहते हैं। प्रातिपदिक का मतलब वह संज्ञा है, जिसमें कारक प्रत्यय या षष्ठी प्रत्यय लगाये नहीं गये हैं। वे लगने के बाद सम्पूर्ण शब्द की 'पद' ऐसी प्रसिद्धि हो जाती है। पद से तो संज्ञेय के साथ कर्तृत्वादि का भी बोध होता है लेकिन अकेला प्रातिपदिक केवल संज्ञेय का बोध कराता है, जैसे- 'घट' इतना ही कहने पर 'घड़ा' इतना ही ज्ञात होता है, उसमें कर्तृत्वादि न विशेषण रूप से ज्ञात होता है और न ही घट से कोई सम्बन्ध ज्ञात होता है। महावाक्य का अर्थ इस तीसरी श्रेणी के अनुरूप अखण्ड है। 'तू ब्रह्म है' से पता चलता है 'मैं ब्रह्म हूँ', इसमें न तो मेरा ब्रह्म से कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है और न ब्रह्म मेरा विशेषण बनता है। विशेष्य से कुछ अन्तर हो तभी विशेषण हुआ करता है, अत्यन्त अभेद में विशेषण-विशेष्यभाव नहीं होता। ब्रह्म जैसा हूँ, ब्रह्म नामवाला हूँ, ब्रह्म का अंशादि हूँ– इस तरह का कोई ज्ञान होता तब तो बोध में खण्ड रहते और उनका आपसी सम्बन्ध भी होता। किन्तु जब केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' ही ज्ञात होता है तो इस ज्ञान में कोई खण्ड नहीं है। ब्रह्मस्वरूप ऐसा है, जिसमें किसी

तरह की न्यूनाधिक्य नहीं, अत: उसे एकरस कहते हैं। महावाक्य तत्पदार्थ एवं त्वं पदार्थ का अभेद बताता है। परन्तु दोनों पदार्थों के वाच्यस्वरूप इस योग्य नहीं कि अभिन्न समझे जा सकें। एक ही वस्तु में युगपत् प्रत्यक्ता व परोक्षता एवं सद्वितीयता व पूर्णता होना क्योंकि व्याहत है। इसलिये महावाक्यीय पदों को पुरुषार्थावसायी बोध देने में सहारा प्रदान करने के लिये लक्षणावृत्ति सक्षम होती है।[1] शब्द के वाच्यार्थ को समझने पर यदि अन्य किसी प्रमाण से विरोध हो, तो वाच्यार्थ से निश्चित सम्बन्ध वाले अन्य अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।[2] महावाक्य के शाब्दबोध में तत् आदि के लक्ष्यार्थों का उपयोग है। तदादि के वाच्य जड़-चेतन के अविविक्त रूप हैं, केवल जड़ तो वाच्य है नहीं, अत: यदि वाच्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाये, तब 'तू ब्रह्म है' अनर्थक हो जायेगा क्योंकि सुनने वाले को स्वयं का ही निषेध समझना पड़ेगा - 'मैं नहीं हूँ', यह असम्भव है। यदि वाच्य यथावत् रखकर कुछ जोड़े तो विशिष्ट बना रहने से अभेद असम्भव ही रहेगा। अत: यहाँ वाच्य का नाम-रूपांश (अनात्मांश) छोड़ना है, चैतन्य अंश ग्रहण करना है, इस प्रकार यहाँ भागत्यागलक्षणा से ही अभीष्ट वाक्यार्थ की प्राप्ति सम्भव है, अन्य लक्षणा से नहीं।[3]

5- पञ्चप्रक्रिया नामक प्रकरण ग्रन्थ की प्रकृति और विषयवस्तु –

पञ्चप्रक्रिया एक छोटा प्रकरण ग्रन्थ है, जो कि अद्वैत वेदान्त दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों से सम्बन्धित विषय की व्याख्या करता है। किसी भी शास्त्र की रचना में पारम्परिक अनुबन्ध चतुष्टयों के अनुकूल ही इस शास्त्र में भी हम अनुबन्ध चतुष्टयों को पाते हैं। इस शास्त्र

---

[1] प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता। विरुध्यते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥४६॥ वा.वृ.,पृ०-७८

[2] मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे। मुख्यार्थेनाऽविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥ ४७ ॥ वहीं, पृ०- ८०

[3] तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा। सोऽयमित्यादिवाक्यस्थप्पदयोरिव नाऽपरा ॥४८॥ वा.वृ.,पृ०- ८२

का अधिकारी है- नि:श्रेयसकाम, विषय है - अज्ञातात्मन्, सम्बन्ध है– प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव और प्रयोजन है- नि:श्रेयस की प्राप्ति। महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के लिये यह एक संक्षिप्त प्रकरण ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ अधिकांशत: सरल व सहज संस्कृत गद्य में लिखा गया है। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभाजित है।

- प्रथम अध्याय में स्वीकृत शब्दवृत्तियों जैसे- मुख्यवृत्ति, गुण/गौण वृत्ति और लक्षणावृत्ति की परीक्षा की गयी है और यह निष्कर्ष देता है कि इन शब्दवृत्तियों में से अन्तिम दो शब्दवृत्तियाँ ही महावाक्यों के मुख्य अभिप्राय को प्रकट करने के सन्दर्भ में सक्षम हो सकती है।
- द्वितीय अध्याय में महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य की जहदजहल्लक्षणा के माध्यम से सोदाहरण व्याख्या की गयी है और जीवन मुक्ति के सन्दर्भ में मोक्ष के सिद्धान्तों की भी अनुकूल व्याख्या की गयी है।
- तृतीय अध्याय में साधक को दृष्टि में रखते हुये महावाक्य के तत् और त्वम् शब्दों के अर्थों की व्याख्या के सन्दर्भ में अविद्या सबल ब्रह्मन् से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और पुन: इसका शुद्ध ब्रह्मन् में लय की संक्षिप्त व्याख्या की गई है।
- चतुर्थ अध्याय में उपनिषदों के अवान्तर वाक्यों की प्रकृति की परीक्षा की गई है। जैसे- "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" (तैत्तिरियोपनिषद्-२/१/१) यह वाक्य "तत्त्वमसि" (छान्दोग्योपनिषद्-६/८/७) महावाक्य में तत् व त्वं शब्दों के अर्थ-निर्धारण में सहयोग करता है।
- पञ्चम एवं अन्तिम अध्याय, जो कि अपने आप में ग्रन्थ के एक तिहाई हिस्से को समाहित किया हुआ है तथा पाँचों अध्यायों में दार्शनिक दृष्टि से सबसे दुरुह है, इसमें सर्वज्ञात्मन् अपने उस मुख्य सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं, जो यह बताता है कि अज्ञान और ज्ञान

दोनों का आश्रय के प्रत्यगरुप में ब्रह्मन् है । जिससे यह द्योतित होता है कि एक मात्र ब्रह्मन् ही बन्ध दशा में जाता है और स्वयं ही मोक्ष का अनुभव करता है ।

6- ग्रन्थकार सर्वज्ञात्ममुनि का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्त्व-

सर्वज्ञात्मन् के पञ्चप्रक्रिया के अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थ हैं- प्रमाणलक्षण और संक्षेपशारीरक। इनमें से सबसे छोटा व कम महत्त्वपूर्ण है- 'प्रमाणलक्षण' जो कि भाट्टमीमांसकों द्वारा स्वीकृत विभिन्न प्रमाणों की रक्षा व परीक्षा करता है । दूसरा ग्रन्थ है- 'संक्षेपशारीरक' जिसमें लेखक स्वयं ही यह वर्णित करते हैं कि यह ग्रन्थ संक्षिप्त रूप से आचार्य शंकर के ब्रह्मसूत्रभाष्य के अभिप्राय को स्पष्ट करने में सहायक है । यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है तथा इसके लेखक के रूप में भारतीय दर्शन के इतिहास में यह ग्रन्थ सर्वज्ञात्ममुनि को बहुत ख्याति प्रदान करता है । कुछ विद्वान् पञ्चप्रक्रिया के लेखक और संक्षेपशारीरक के लेखक की भिन्नता स्वीकार करते हैं तथा यह प्रश्न उठाते हैं कि पञ्चप्रक्रिया में ऐसे क्या प्रमाण है, जिससे यह कहा जा सके कि संक्षेपशारीरक के लेखक से पंचप्रक्रिया के लेखक की समानता है ? लेखनशैली की दृष्टि से तो दोनों ग्रन्थों में बहुत कम समानता स्थापित की जा सकती है क्योंकि पञ्चप्रक्रिया प्रकरण ग्रन्थ के रूप में अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या संक्षेपशारीरक से अपेक्षाकृत बहुत ही सीमित रूप में करता है ।

पञ्चप्रक्रिया का माध्यम आर्शीवादात्मक पद्यों, पुष्पिकाओं, उद्धरणों एवं गद्यों के साथ-साथ लम्बी व्याख्याओं एवं विवरणों से बचते हुये अद्वैत वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों को संक्षिप्त रूप से उल्लेखित करना है । जबकि दूसरी ओर संक्षेपशारीरक विभिन्न छन्दों में लिखित 1250 पद्यों की एक बडी रचना है, जो यत्र-तत्र लम्बे शास्त्रार्थ और दीर्घ व्याखाओं से अपने आकार को ओर भी समृद्ध तथा विस्तृत बना लेता है । इन्ही विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । किन्तु विषय की दृष्टि से दोनों रचनाएँ अत्यन्त समान हैं । दोनों ही रचनाएँ मुख्य रूप से शास्त्रीय भाषा के माध्यम से महावाक्यों की ही व्याख्या करती हैं । विशेष रूप से संक्षेपशारीरक का द्वितीय अध्याय और पञ्चप्रक्रिया का पञ्चम

अध्याय काफी समानता रखते हैं, क्योंकि दोनों अध्यायों में तत्त्वमीमांसा पर विशेष बल दिया गया है।

7- पञ्चप्रक्रिया और संक्षेपशारीरक ग्रन्थों की समानता-

सैद्धान्तिक दृष्टि से हम कुछ प्रमुख बिन्दुओं को वर्णित कर सकते हैं, जो कि दोनों ही ग्रन्थों में समान रूप से वर्णित हैं -

- महावाक्यों की व्याख्या में जहल्लक्षणा व गुणवृत्ति के प्रयोग की स्वीकृति में सुरेश्वराचार्य का समर्थन किया गया है।
- दोनों ही ग्रन्थों में अपुनरुक्त शब्दोपसंहार के साथ- साथ अवान्तर वाक्यों की व्याख्या की गयी है।
- दोनों ही ग्रन्थों में महावाक्य की व्याख्या में जहदजहद लक्षणावृत्ति को स्वीकृति दी गयी है।
- दोनों ही ग्रन्थों में ब्रह्मन् के दोनों पक्षों अर्थात् अद्वय व प्रत्यक् की स्वीकृति इस तथ्य के साथ दी गई है कि प्रत्यग् ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय है।
- दोनों ही ग्रन्थों में इस तथ्य को स्वीकृति दी गई है कि ज्ञान का सम्बन्ध ब्रह्म से ब्रह्म के ही माध्यम से कञ्चुक (अन्त:करण रूप द्वार) द्वारा होता है, जो कि अन्त:करणरूप बाह्य आवरण है।
- दोनों ही ग्रन्थों में इस तथ्य को स्वीकृति दी गई है कि ब्रह्म से अज्ञान का सम्बन्ध होने में निमित्त एक मात्र अज्ञान ही बनता है। कहने का तात्पर्य है कि भेद की दशा में आत्माश्रय ही स्वीकृत है।

इस प्रकार इन बिन्दुओं को देखने से यह तथ्य और भी सुदृढ़ होता है कि पञ्चप्रक्रिया और संक्षेपशारीरक एक ही लेखक की रचनाएँ है। इसी प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि पञ्चप्रक्रिया के लेखक ने तीन स्थानों पर संक्षेपशारीरक के पद्यों को प्रत्यक्ष रूप से उद्धृत किया है और इस सन्दर्भ में उन्होनें इसके लेखक को कोई श्रेय नहीं दिया है, जैसा कि शिष्टाचारवश उद्धरण प्रसंग

में श्रेय देने की परम्परा है । इससे भी यह सिद्ध होता है कि संक्षेपशारीरक के लेखक भी सर्वज्ञात्ममुनि ही है ।

8- सर्वज्ञात्ममुनि का समय/तिथि निर्धारण-

भारतीय दर्शन में सर्वज्ञात्ममुनि के समय के सन्दर्भ में भी विवाद पाया जाता है । एस.वी. वेकटेश्वर अय्यर, के. सीतारमैया, एम. हरियन्ना और एन.वी.जी.नाथन जैसे विद्वान् पारम्परिक मत को समर्थन देते हैं । इस मत के अनुसार सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्य के साक्षात् शिष्य थे और इनका समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या दशमी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है ।

इस मत के विपक्ष में अन्य विद्वान् जैसे– टी.ए. गोपीनाथराव, टी.आर.चिन्तामणि और टी.वेटर मानते हैं कि सर्वज्ञात्ममुनि सुरेश्वराचार्य के शिष्य नहीं थे । क्योंकि सर्वज्ञात्मुनि ने अपने सभी ग्रन्थ की पुष्पिका में सर्वत्र देवेश्वर को अपने गुरु के रूप में उल्लेखित किया है । इस सन्दर्भ में पारम्परिक मत वाले विद्वानों का कहना है कि देव शब्द सुर का पर्याय भी हो सकता है, अत: सुरेश्वर ही सर्वज्ञात्मन् के गुरु थे, इसमें सन्देह नहीं होना चाहिए । अद्वैत वेदान्त के अध्ययन केन्द्र के रूप में विख्यात मठों में भी इसी कथन का समर्थन प्राप्त होता है कि देवेश्वर ही सुरेश्वर है । अत: इनका मानना है कि शंकर, सुरेश्वर, और सर्वज्ञात्मुनि का समय पास-पास ही होना चाहिये।

9- अद्वैत वेदान्त में तत्त्वमीमांसा और पराविद्या-

सर्वज्ञात्मन् ने पञ्चप्रक्रिया के पञ्चम अध्याय के प्रारम्भ में अविद्यावृत्ति के कार्यों की चर्चा की है तथा चारों अध्यायों के प्रारम्भ में विद्या की भी चर्चा की है । विद्या शब्द– ज्ञान, आत्मैकत्व तथा शुद्ध ब्रह्मन् के लिये प्रयुक्त किया गया है, जो कि अद्वैत वेदान्त का परम लक्ष्य है। यह महावाक्यों के सही अर्थ ग्रहण के उपरान्त ही प्राप्य है । इस ज्ञान के अतिरिक्त शेष सब कुछ अविद्या और तज्जन्य है । इस रूप में जब अद्वैत वेदान्ती ज्ञान का अनुसरण करता है, तब शास्त्र

का व्याख्यान ही महत्त्वपूर्ण माध्यम बनता है। इसी को पराविद्या या ब्रह्मविद्या कहा जाता है। जब जीव को यह ज्ञात होता है कि वह ब्रह्म से साक्षात् ही सम्बन्धित है तो वह स्वयं को शास्त्र के व्याख्यान में ही नियोजित रखता है क्योंकि महावाक्यों का स्पष्ट एवं वास्तविक अर्थ का ज्ञान ही उसे ब्रह्म के साक्षात् समीप लाता है। दूसरी ओर जब जीव को यह ज्ञात होता है कि वह ब्रह्म से सम्बद्ध नहीं है, तब इस दशा में विषयों की व्याख्या महत्वपूर्ण हो जाती है। अर्थात् वह लोक व्यवहार के विश्लेषण में ज्यादा ही संलग्न होता है, इस स्थिति में वह अज्ञान और उसके कार्यों की विवेचना में ज्यादा ही संलग्न होता है। इसे ही विषयों की व्याख्या या तत्त्वमीमांसा कहते हैं।

10- शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य और सर्वज्ञात्मन् के कर्तृत्व में पराविद्या –

सर्वज्ञात्ममुनि शब्दवृत्तियों के विभिन्न प्रयोगों की परीक्षा से अपने ग्रन्थ पञ्चप्रक्रिया का आरम्भ करते हैं। ये शब्दवृत्तियाँ है- मुख्यवृत्ति, गुणवृत्ति और लक्षणावृत्ति। इनमें से अन्तिम दो वृत्तियाँ, मुख्यतया लक्षणावृत्ति सर्वज्ञात्मन् के पराविद्यावर्णन में इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि एक मात्र इसी के माध्यम से अद्वैत वेदान्त के महावाक्यों का अर्थ-निर्धारण हो सकता है। ये महावाक्य ब्रह्मन् को उद्दिष्ट करने के अभिप्राय से ही कहे गये हैं। ऎसा ब्रह्मन् जो सभी प्रकार के स्वीकृत सम्बन्धों से परे है, अत: सामान्य भाषा के प्रयोग से इसे नहीं बताया जा सकता। शंकर और सुरेश्वर भी इसी तथ्य को स्वीकृति प्रदान करते हैं। शंकराचार्य में गुणवृत्ति व लक्षणा के बीच का भेद उस प्रकार से विकसित दिखाई नहीं देता है जैसा कि सुरेश्वर और सर्वज्ञात्मन् की रचनाओं में मिलता है। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य को छोड़ कर शंकराचार्य अपनी सभी परिष्कृत रचनाओं में "लक्षणा" इस संज्ञा का प्रयोग कभी नहीं करते हैं जबकि इससे सम्बन्धित क्रिया का प्रयोग किया है। शङ्कराचार्य शब्दों की मुख्य व गौण प्रयोग के स्पष्ट भेद को बताने के लिये प्राय: मुख्यवृत्ति और गुणवृत्ति, मुख्य और गौण या गुण और अगुण इन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं। पंचप्रक्रिया के आंग्लानुवादक इवान् कोमरेक का शंकराचार्य के विषय में यह मत है कि- ब्रह्मसूत्रभाष्य में दो स्थानों पर शंकराचार्य 'लक्षणा' को विशेष महत्त्व देते हुये नहीं प्रतीत होते। जिससे यह द्योतित होता है कि वे सुरेश्वर व सर्वज्ञात्मन् के द्वारा प्रयुक्त लक्षणा से कुछ सीमा तक

परिचित थे तथा उन्होनें लक्षणा के दो प्रकार बताये है- सन्निकृष्ट लक्षणा और विप्रकृष्ट लक्षणा ।[1] यहाँ पर ध्यातव्य है कि लक्षणा की दो शक्तियों के इस भेद ने ही सर्वज्ञात्मन् के लक्षणा को तीन भागों में विभाजित करने के विचार को सहयोग प्रदान किया । परन्तु इवान् कोमरेक का यह मत तार्किक दृष्टि से संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि शंकराचार्य ने अपने छान्दोग्योपनिषद् भाष्य में स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि महावाक्यार्थ के अभीष्ट अर्थ को बतलाने में लक्षणा ही समर्थ है ।

सुरेश्वराचार्य के कर्तृत्व में यह प्राप्त होता है कि मुख्य व गुणवृत्ति का उनका विचार शंकर से भिन्न नहीं है, लेकिन औपनिषद महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०) में गुणवृत्ति के प्रयोग में उन्होनें नवाचार का सृजन किया है और इसे सर्वज्ञात्मन् ने पञ्चप्रक्रिया में विशेष रूप से स्वीकृत और उल्लेखित किया है । लक्षणा के सम्बन्ध में विशेषत: गुणवृत्ति के साथ 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य के प्रयोग में सुरेश्वर शंकर से एक पद आगे हैं, किन्तु इस व्याख्या ने एक विवाद उपस्थित कर दिया है क्योंकि सुरेश्वराचार्य ने लक्षणावृत्ति को बताने के लिये 'लक्षणा' (स्त्रीलिंग) के स्थान पर 'लक्षणम्' (नपुंसकलिंग) का प्रयोग किया है।[2] सम्भवतः यहाँ सुरेश्वराचार्य का तात्पर्य लक्षणावृत्ति से न रहा हो, परन्तु यहाँ पद्य में जो वाक्य प्रयोग "अयो दहति" किया गया है, वह स्पष्ट रूप से लक्षणावृत्ति के प्रयोग को ही प्रदर्शित करता है । पञ्चप्रक्रिया में सर्वज्ञात्मन् ने ठीक यही उदाहरण दिया है और इसे जहल्लक्षणा का उदाहरण बताया है । नैष्कर्म्यसिद्धि: (२/५३) की व्याख्या का अन्तिम वाक्य 'सोच्यते प्रसिद्धलक्षणा-गुणवृत्तिभि:' स्पष्ट रूप से कहता है कि शब्द की तीन वृत्तियाँ है- प्रसिद्ध, लक्षणा, और गुणवृत्ति । प्रारम्भिक अद्वैतवादियों में सर्वप्रथम सर्वज्ञात्मन् के कृतित्व में ही शब्दवृत्तियों के तीन प्रयोगों के बीच स्पष्ट भेद दृष्टिगोचर होता है और साथ ही लक्षणा के तीनों प्रकारों के बीच भी स्पष्ट भेद दृष्टिगोचर होता है, जो कि औपनिषद महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका

---

[1] लै.ए.री., पृ. १६

[2] 'अयोदाहादिवत्तेन लक्षणं परमात्मन:' -२/५४, नै.सि.

निभाता है । इनके बाद के अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है । सर्वज्ञात्मन् के बाद ही 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों की व्याख्या में 'जहदजहल्लक्षणा' का प्रयोग एक मानक बन गया । सर्वज्ञात्ममुनि औपनिषद वाक्यों का दो प्रकार से विभाजन करते हैं -

1- महावाक्य- जैसे कि "अहं ब्रह्मास्मि" (बृ.उ. १/४/१०) और "तत्त्वमसि" (छा.उ.६/८/७)। इनका वास्तविक अर्थाधिगम ही मोक्ष के प्रति कारण बनता है ।
2- अवान्तर वाक्य– अवान्तर वाक्य महावाक्यों के तत्त्व के अर्थ-निर्धारण में सहयोगी होते हैं । ये अवान्तर वाक्य भी दो प्रकार के होते हैं –
    - सकारात्मक या विधिमुख- जैसे कि " सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म " (तै.उ. २/१/१)
    - नकारात्मक या निषेधमुख- जैसे कि " नेति नेति " (बृ.उ. २/३/६, २/३/९)

अद्वैत वेदान्त पराविद्या का सम्पूर्ण प्रयास पूरी तरह से महावाक्यों के वास्तविक अभिप्राय को समझने में ही है । महावाक्यों के वास्तविक अर्थ को समझना और उस अर्थ का साक्षात् अनुभव करना ही मोक्ष के प्रति उत्तरदायी है । सुरेश्वराचार्य की कृति 'नैष्कर्म्यसिद्धि' पद्यात्मक रूप में लिखी गई है, सम्भवत: इसीकारण उन्होनें महावाक्यों का उस प्रकार से गहन विश्लेषण नहीं किया जिस प्रकार से शंकराचार्य ने किया है । किन्तु सुरेश्वराचार्य ने ही सर्वप्रथम महावाक्यों की व्याख्या में शब्दवृत्तियों के सम्प्रत्यय को प्रस्तुत किया । अद्वैत वेदान्त में महावाक्यों के सन्दर्भ में शब्दवृत्तियों का नवाचार सुरेश्वराचार्य का बहुत बङा योगदान कहा जाता है । सुरेश्वर की गुणवृत्ति को ही सर्वज्ञात्मन् ने जहल्लक्षणा कहा है । आचार्य शंकर और सुरेश्वर ने जो भी आधार तैयार किया, उसी आधार पर सर्वज्ञात्मन् अपनी पराविद्या का वर्णन करते हैं । शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य से लेकर सर्वज्ञात्ममुनि तक यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त परम्परा में महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया में निरन्तर वृद्धि एवं समृद्धि होती रही है । सार रूप में अद्वैत वेदान्त पराविद्या वर्णन में सर्वज्ञात्मन् के योगदान के विषय में यह कहा जा सकता है कि –

- सर्वज्ञात्मन् ने ही सर्वप्रथम महावाक्यों और अवान्तर वाक्यों के बीच स्पष्ट भेद किया।
- अवान्तर वाक्यों को विधिपरक और निषेधपरक में विभाजित कर निषेधपरक अवान्तर वाक्यों की अपेक्षा विधिपरक को ज्यादा महत्त्व प्रदान करते हैं क्योंकि विधिपरक अवान्तर वाक्य महावाक्यों के वास्तविक अर्थ को समझने में अपेक्षाकृत अधिक सहायक होते हैं। जबकि ब्रह्मज्ञान के सन्दर्भ में शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य विधि व निषेधपरक दोनों प्रकार के वाक्यों को समान महत्त्व देते हैं।
- तत्त्वमसि और अहं ब्रह्मास्मि- इन दो वाक्यों के वर्णन में 'महावाक्य' इस शब्द का सम्प्रत्यय सर्वप्रथम प्रस्तुत करते हैं, जिसका अभिप्राय ब्रह्म व जीवात्मा का पूर्ण तादात्म्य है, जैसा कि 'अखण्डार्थ' शब्द से द्योतित होता है।
- सर्वज्ञात्मन् लक्षणा के तीन भेद करते हैं- जहल्लक्षण, अजहल्लक्षणा तथा जहदजल्लक्षणा। इनमें से भी जहदजहल्लक्षणा को ही महावाक्यों के अखण्डार्थ-निर्धारण में स्वीकृति प्रदान करते हैं, जो कि परवर्ती चिन्तकों के लिये महावाक्यों के अखण्डार्थ-निर्धारण के लिये एक सटीक और व्यवस्थित मानक बन गया । अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा में सर्वज्ञात्मन् का यही महत्त्वपूर्ण योगदान है।

11- शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य और सर्वज्ञात्मन् में अज्ञानाश्रय की समस्या -

अज्ञान के आश्रय के सम्बन्ध में मौलिक रूप से दो सम्भावनाएँ बनती हैं। एक तो यह कि अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है, दूसरी यह कि अज्ञान का आश्रय जीव है। ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय मानने पर यह समस्या उठती है कि अद्वैत की मान्यतानुसार ब्रह्म फिर शुद्ध और अखण्ड सत्ता नहीं हो पाएगा और जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर यह विरोधाभास उत्पन्न होता है कि जीव स्वयं अज्ञान का कार्य है, अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव रूप कार्य से पूर्व अज्ञान बिना आश्रय के कैसे रहेगा? तब समस्या यथावत् रह जायेगी।

अद्वैत वेदान्त में आचार्य शंकर के समय से ही यह दार्शनिक समस्या लोगों का अत्यधिक ध्यान आकृष्ट करती गयी । शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य इस विषय पर ज्यादा मुखर नहीं थे फिर भी परम्परा यह स्वीकार करती हुई दिखाई देती है कि इन दोनों आचार्यों के अनुसार ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों है । विवरणकार प्रकाशात्मयति ब्रह्मन् को अज्ञानाश्रय मानते हैं जबकि भामतीकार जीव को अज्ञानाश्रय स्वीकार करते हैं । सर्वज्ञात्मन् ने यहाँ मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुये प्रत्यग् ब्रह्मन् को अज्ञानाश्रय माना है ।

सर्वज्ञात्मन् के अनुसार अज्ञान के आश्रय के प्रति दो तत्त्व उत्तरदायी है- ब्रह्मन् और अज्ञान। प्रथम तत्त्व वस्तुत: सत्य है जबकि द्वितीय निश्चित रूप से भ्रम है । सर्वज्ञात्मन् स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अज्ञान स्वयं ही अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता किन्तु अवश्य ही शुद्ध ब्रह्मन् अज्ञान का आश्रय हो सकता है । किन्तु इसी बिन्दु पर यह समस्या उत्पन्न होती है कि किसी भी प्रकार के सम्बन्ध से सर्वथा रहित, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा एक मात्र सत्य ब्रह्म अज्ञान के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है, जो कि (अज्ञान) पूर्णतया असत्य एवं अयथार्थ है । फिर ऐसा कौन सा योजक तत्त्व (सम्बन्ध) है, जो दो विरोधाभासी तत्त्वों को परस्पर जोड़ता है जिसके द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय है । सर्वज्ञात्मन् ही इस समस्या का समाधान देते हुए कहते हैं कि ब्रह्म प्रत्यग् रूप में ज्ञान व अज्ञान का आश्रय है– 'ब्रह्मणश्च प्रत्यग् रूपेण ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम्' ।[1] 'प्रत्यग् रूप' इस शब्द के द्वारा सर्वज्ञात्मन् स्पष्ट रूप से जीव को उद्देश्य नहीं करते क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में जीव और अज्ञान के मध्य व्यभिचार की दशा आ जाती है और यहाँ उनका मन्तव्य शुद्ध ब्रह्म से भी नहीं है क्योंकि तर्क रूपेण यह असंगत है । सर्वज्ञात्मन् ब्रह्म के किसी निश्चित आयाम को ही 'प्रत्यग् रूप' मानते हैं । परन्तु अखण्ड ब्रह्म का आयाम (खण्ड) होना भी तो सम्भव नहीं है । अत: ब्रह्म का कोई आयाम भी प्रत्यग् रूप नहीं माना जा सकता ।

---

[1] ले.ए.री., पृ०-११३

अन्ततः शुद्ध ब्रह्म और विशिष्ट ब्रह्म की भिन्नता जो प्रारम्भ से ही अद्वैत वेदान्त में विद्यमान रही है, के माध्यम से सर्वज्ञात्मन् ने अज्ञान के आश्रय की समस्या का समाधान किया है। ऋषिसम्भूत अनुभव वाक्यों का समुचित विश्लेषण ही शाङ्कर वेदान्ताचार्यों का प्रमुख ध्येय रहा है और इस दृष्टि से अनेक भाष्य, टीका, वृत्ति, प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की गई। इस सन्दर्भ में प्रथम प्रयास आचार्य शङ्कर कृत 'वाक्यवृत्ति' है, जो 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ प्रतिपादक मुख्य प्रकरण-ग्रन्थ है।

|| द्वितीय अध्याय ||

[शब्दवृत्तिविवेक:]

शब्दवृत्ति का विवेचन

मंगलाचरण-

दीपवत्सर्वविज्ञेयविज्ञानोत्पत्तिहेतवे ।

चिद्विवर्ताय नित्याय नमो वेदाय वेधसे ॥

अन्वय – सर्वविज्ञेय दीपवत् विज्ञानोत्पत्ति हेतवे चिद्विवर्ताय नित्याय वेदाय वेदसे नमो ।

अनुवाद-

सभी ज्ञेय पदार्थों को दीपक के समान जानने की उत्पत्ति में कारण स्वरूप अखण्ड चैतन्य के विवर्त, सभी वेदों के ज्ञाता, नित्य ब्रह्मा जी को नमस्कार करते हैं ।

मूल ग्रन्थ (१)-

अथात: शब्दवृत्तिप्रकारभेदान् व्याख्यास्यामो वेदार्थज्ञाननैर्मल्यसिद्धये । तिस्र: शब्दस्य वृत्तय: प्रसिद्धिलक्षणागुणवृत्तय इति लोके प्रसिद्धा: । प्रसिद्धिशब्देन मुख्या वृत्तिरभिधीयते । यस्यार्थस्य वाचकत्वेन वृद्धव्यवहारे य: शब्दो गृहीतशक्तिको भवति तस्य तेनैव प्रयोजकेन तत्रैवार्थे वृत्ति: मुख्या वृत्तिरित्युच्यते । यथा सास्नादिमदाकृतौ गृहीतशक्तिकस्य गोशब्दस्य 'गामानय' इत्यादिप्रयोगे तत्रैवार्थे वृत्ति: । लक्षणा तु पुन: मुख्यार्थपरिग्रहे प्रमाणान्तविरोधे सति मुख्यार्थसम्बन्धादर्थान्तरे वृत्ति: । यथा 'गङ्गायां घोष: प्रतिवसति' इति प्रयोगे गंगासम्बन्धात् गंगातीरे गंगाशब्दस्य वृत्ति: । गुणवृत्तिस्तु मुख्यार्थपरिग्रहे प्रमाणान्तरविरोधे सति मुख्यार्थगुणयोगादर्थान्तरे वृत्ति: इति ; यथा 'सिंहो देवदत्त:' इति क्रोधशौर्यादिसिंहगुणयोगात् सिंहशब्दस्य देवदत्ते वृत्ति: । यद्यपि परशब्दस्य परत्र वृत्ति: इत्येतद्रूपं समानं लक्षणागुणवृत्तयो: तथाप्यनयोरवान्तरलक्षणभेदेन भेद: । एवमेतास्तिस्र: शब्दस्य वृत्तयो व्याख्याता : ।

अनुवाद (१)-

विवेकादि साधन चतुष्टयरूप सम्पत्ति सिद्धि के अनन्तर कर्मफल के अनित्य और ज्ञानफल मोक्ष के नित्य होने से (ब्रह्मज्ञान में सहायक) शब्दवृत्ति के प्रकारों की व्याख्या वेद के अर्थ की

स्पष्टता की सिद्धि के लिये करते हैं। शब्द की प्रसिद्धि, लक्षणा और गौणी ये तीन वृत्तियाँ लोक में प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्धि शब्द से मुख्यावृत्ति को कहा गया है। जिस अर्थ का वाचक पद के रूप में वृद्धव्यवहार में प्रयोग होता है, वह शब्द (वाचक) शक्तियुक्त होता है। उसका (शब्द का) उसी प्रयोजक कर्ता के द्वारा उसी अर्थ में जो वृत्ति (सम्बन्ध) होती है, उसे ही मुख्या वृत्ति कहते हैं। जैसे- 'गामानय' इत्यादि प्रयोग में सास्नादि संयुक्त आकृति रूप अर्थ में शक्तियुक्त गो शब्द की उसी अर्थ में (सास्नादियुक्त अर्थ में) वृत्ति को मुख्या वृत्ति कहते हैं। लक्षणा तो मुख्यार्थ के ग्रहण में प्रमाणान्तर से विरोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरे अर्थ को प्रकट करने वाली वृत्ति है। जैसे- 'गंगायां घोष: प्रतिवसति' इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में गंगा से सम्बन्धित गंगातट अर्थ में गंगा शब्द की वृत्ति (शक्ति) लक्षणावृत्ति है। मुख्यार्थ के ग्रहण में प्रमाणान्तर से विरोध होने पर मुख्यार्थ के गुणों युक्त दूसरे अर्थ को बताने वाली वृत्ति (शक्ति) गुणवृत्ति होती है। जैसे- 'सिंहो देवदत्त:' इस प्रकार के प्रयोग में क्रौर्यशौर्यादि सिंह के गुणों से युक्त अर्थ में सिंह शब्द की देवदत्त में वृत्ति। यद्यपि लक्षणा और गुण वृत्तियों में दूसरे अर्थ में ही वृत्ति स्वीकार्य है, इस प्रकार दोनों में समानता है परन्तु इन दोनों वृत्तियों के लक्षणों में भिन्नता होने से भेद है। इस प्रकार तीनों शब्द की वृत्तियों की व्याख्या की गई है।

विश्लेषण (१)-

वाक्यस्थ 'अथ' शब्द आनन्तर्यार्थक परिगृहित है, आरम्भार्थक या मंगलार्थक नहीं। यद्यपि " मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्र्यप्यवथोऽथ" अमरकोश के इस वचन से 'अथ' शब्द के मंगल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, कात्स्र्य (पूर्ण) इत्यादि अनेक अर्थ बताये गये हैं और इन्हीं अर्थों में आचार्यों ने 'अथ' शब्द का प्रयोग भी किया है। जैसे- 'अथ योगानुशासनम्' योग दर्शन के इस प्रथम सूत्र में 'अथ' शब्द आरम्भ अर्थ में प्रयुक्त है। ''अथातो धर्मजिज्ञासा'' और "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा", पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा के इन प्रथम सूत्रों में अथ शब्द 'आनन्तर्य' अर्थ में

प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि आचार्यों को यहाँ आनन्तर्य अर्थ ही अभिप्रेत है। अद्वैतवेदान्त के इस प्रकरण ग्रन्थ पञ्चप्रक्रिया के प्रथम वाक्य में आया हुआ अथ शब्द भी "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" के समान ही आनन्तर्य अर्थ में ही प्रयुक्त है क्योंकि मंगलादि अर्थ करने पर वाक्यार्थ का समन्वय नहीं होता। भगवान् सूत्रकार ने कहा है कि आनन्तर्यार्थ में प्रयुक्त होने पर भी यह 'अथ' शब्द श्रवणमात्र से मंगलरूप अर्थ को सिद्ध कर ही देता है। जिस प्रकार जलपूर्ण कलश या शंखध्वनि अपने- अपने अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी दर्शक या श्रोता को मंगलरूप सिद्ध होते हैं। ऐसे ही अथ शब्द भी श्रवणमात्र से मंगल करता हुआ आचार्य के अभिप्रेत आनन्तर्य अर्थ को भी स्पष्ट करता है। अथ शब्द के आनन्तर्यार्थक होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा पहले नियम से होने वाले कारणभूत वेदाध्ययन की अपेक्षा रखती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान में सहायक शब्दवृत्तिविवेक भी पहले नियम से रहने वाली वस्तु की अपेक्षा अवश्य ही रखता है। अर्थात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि किसके अनन्तर शब्दवृत्ति के प्रकारों की व्याख्या की जा रही है? कहते हैं कि– नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इस लोक और परलोकस्थ विषय भोगो से विराग, शमदमादि साधन सम्पत्ति और मुमुक्षुता (मोक्ष की इच्छा) इन साधन चतुष्टयों से सम्पन्न होने के अनन्तर।

वाक्यस्थ 'अत:' शब्द हेतु अर्थक है। जिस प्रकार इस लोक में कर्म जन्य सभी पदार्थ अन्न वस्त्रादि नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार परलोक में पुण्य कर्मों से सम्पादित स्वर्गादि भोग भी नष्ट हो जाते हैं क्योंकि "यत्कृतकं तदनित्यम्' (जो जन्य है वह अनित्य है) यह व्याप्ति है और स्वर्ग भी पुण्य कर्म जन्य है, अत: अनित्य है।[1] दूसरी तरफ ब्रह्मज्ञान के विषय में श्रुति कहती है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी मोक्षस्वरूप पर ब्रह्म को प्राप्त होता है। इत्यादि श्रुति

[1] (अ) "तद्यथेह कर्मचितो लोक: क्षीयते तथा, आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन" - ८/१६,भ. गी.
(ब)"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" -९/२१, वही.

वाक्य ब्रह्मज्ञान से ही परमपुरूषार्थ मोक्ष को दिखलाता है तथा यह मोक्ष कूटस्थ नित्य कहा गया है, जिसका कि कभी नाश नहीं होता ।[1] इसलिए संशयरहित अर्थात् स्पष्ट वेदार्थ ज्ञान के लिए यथोक्त साधन सम्पत्ति के अनन्तर, कर्मजन्य फलों (लौकिक और पारलौकिक) के अनित्य होने तथा ज्ञानफल मोक्ष के नित्य होने से मोक्ष में सहायक शब्दवृत्ति के प्रकारों की व्याख्या करते हैं । अद्वैत वेदान्त का लक्ष्य ही जीवब्रह्मैक्य को स्थापित करने में है, जो कि वेद के चार महावाक्यों के अर्थनिर्धारण और उनका संशयरहित स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने से ही स्थापित किया जाता है । इसलिए 'वेदार्थज्ञाननैर्मल्यसिद्धये' इस प्रकार का कथन किया गया है । महावाक्यों का अर्थ-निर्धारण करने और अभिप्रेत अर्थ को बतलाने में शब्दवृत्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अत: मुमुक्षु को इनका स्पष्ट ज्ञान होना भी आवश्यक है । इसीलिए सर्वज्ञात्मन् ने जीवब्रह्मैक्य की प्राप्ति के लिए ही शब्दवृत्तियों के प्रकारों की व्याख्या की है ।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने तीन प्रकार के शब्द बताये हैं- वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक।[2] अन्य शास्त्रों में प्राय: वाचक और लक्षक- ये दो प्रकार के शब्द तो माने गये हैं परन्तु तीसरे व्यञ्जक शब्द का निरूपण साहित्यशास्त्र को छोड़कर अन्य शास्त्रों में नहीं किया गया है । इसमें वाचक शब्द मुख्यार्थ का बोधक है । लाक्षणिक शब्द वाचक शब्द के ऊपर आश्रित रहता है इसलिये वाचक के बाद लाक्षणिक का स्थान आता है । व्यञ्जक शब्द इन दोनों की अपेक्षा रखता है इसलिये इसे तीसरे स्थान पर रखा जाता है । यह ध्यातव्य है कि यह तीन प्रकार का विभाग शब्द की उपाधियों का है, शब्द का नहीं क्योंकि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है और अमुक शब्द केवल व्यञ्जक है- इस प्रकार कोई निश्चित विभाग शब्दों में नहीं पाया जाता है । एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है और लक्षक और व्यञ्जक भी । जिस प्रकार एक ही

---

[1] "कूटस्थनित्यैव तु मुक्तिरेषा विद्याफलत्वादिह यद्यदेवम् । तत्तत्तथा दृष्टमशेषमेव यथा हि शुक्त्यादिपदार्थसंविद्" ॥ २९॥ स.शा., पृ० ५७५

[2] "स्याद्वावको लाक्षणिक: शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।।५॥- द्वितीय उल्लास, का.प्र., पृ.-३४

व्यक्ति उपाधि भेद से कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधि भेद से एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यञ्जक कहा जा सकता है। शब्द की तरह ही शब्द के अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं- वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य।[1] शब्द का प्रयोजन ही अर्थज्ञान करवाना है। अर्थ का ज्ञान कराने के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शब्द में ऐसा कौनसा तत्त्व है, जिससे अर्थ ज्ञान हो पाता है। इस विषय में नैयायिक कहते हैं कि शब्द और अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध होता है, उसके कारण ही शब्द से अर्थ का ज्ञान हो पाता है। इसे ही वृत्ति भी कहा गया है। कारिकावली में कहा गया है कि शब्द और अर्थ में जो अर्थस्मरण के अनुकूल परस्पर, जो सम्बन्धविशेष है, उसका नाम वृत्ति है।[2] वृत्ति को ही यहाँ शक्ति भी कहा गया है। अन्नम्भट्ट कहते हैं कि पद और अर्थ के मध्य अर्थ का स्मरण कराने वाला सम्बन्ध ही शक्ति कहलाता है।[3]

वैयाकरणों ने भी शाब्दबोध के लिए वृत्ति की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। नागेशभट्ट के अनुसार जब तक वृत्ति-ज्ञान नहीं होगा, तब तक शाब्दबोध नहीं होगा।[4] समग्र भाषिक शाब्दबोध की प्रक्रिया में वाचक, लक्षक और व्यञ्जक इन तीन प्रकार के शब्दों और वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों को स्वीकृति प्रदान की गई है। वाचकादि शब्दों का अपने वाच्यादि अर्थों के साथ सम्बन्ध को वृत्ति कहा गया है। सर्वज्ञात्मन् ने ये वृत्तियाँ तीन प्रकार की बताई हैं – प्रसिद्धि, लक्षणा और गुणवृत्ति।

---

[1] "वाच्यादयस्तदर्था: स्यु:" ॥६॥ वहीं, पृ.-३५

[2] " वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतर: सम्बन्ध:"- शब्दखण्ड, कारिका., पृ०- ८८

[3] " अर्थस्मृत्यनुकूल: पदपदार्थसम्बन्ध: शक्ति:" – त.स.दी., पृ०- १५३

[4] "अत: एव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोध:" – प.ल.म., पृ० १२

प्रसिद्धि वृत्ति (१.१) –

इसे ही मुख्या, शक्ति और अभिधा वृत्ति भी कहा जाता है । अर्थ के भी तीन प्रकार बतलाये गये है- वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ । इसमें वाच्यार्थ को मुख्यार्थ नाम से भी जाना जाता है । 'मुखमिव मुख्य:' इस विग्रह में 'शाखादिभ्यो य:' [५/३/१०३] सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर मुख्य शब्द सिद्ध होता है । जिसप्रकार शरीर के सारे अवयवों में मुख सबसे प्रधान है और सबसे पहले दिखलायी देता है, उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य सब अर्थों में वाच्यार्थ सबसे प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ है इसलिये मुख के समान होने से इसे 'मुख्यार्थ' कहा जाता है । उस मुख्यार्थ का बोधन कराने वाला जो शब्द का व्यापार है उसको 'अभिधा' या 'मुख्या' व्यापार (वृत्ति) कहते हैं।[1] इसी मुख्या वृत्ति को सर्वज्ञात्मन् ने प्रसिद्धि कहा है । इसको स्पष्ट करते हुये उन्होनें कहा है कि वृद्धव्यवहार में प्रयुक्त होने वाले वाचक शब्द एकप्रकार की शक्ति से युक्त होते हैं और यह शक्ति वाच्यार्थ को प्रकट करने के सामर्थ्य से युक्त होती है । इसी बात को नैयायिक "शक्तं पदम्"[2] इस प्रकार कहते हैं कि शक्ति से जो विशिष्ट होता है, वह पद कहलाता है । दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वाचक या पद वह होता है, जिसमें अपने वाच्य अर्थ को बतलाने की शक्ति विद्यमान होती है । पद के साथ पदार्थ के सम्बन्धविशेष का नाम शक्ति है। वह 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिये' इस ईश्वरेच्छा के रूप में है।[3] आधुनिकों के द्वारा रचे हुए नामों में भी शक्ति है ही क्योंकि 'पिता ग्यारहवें दिन पुत्र का नामकरण संस्कार करें' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा हम लोगों के नाम के रखने में है ही । हाँ, वैयाकरणों द्वारा रची गई नदी, वृद्धि आदि संज्ञाओं में ईश्वरेच्छा न होने से शक्ति नहीं है । जो शाब्दबोध होता है, वह भी भ्रमात्मक है- यह नैयायिकों का मत है । अत: यह स्पष्ट है कि वाचक शब्द में यदि यह शक्ति

---

[1] " स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते" - द्वितीयोल्लास, का.प्र., पृ० ५०

[2] कारिका.(शब्दखण्ड), पृ० १०८

[3] शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्ध: । स चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूप: - शब्दखण्ड, कारिका., पृ.- ८८

न हो तो वह अर्थ की उपस्थिति करवाने में सक्षम नहीं हो पाएगा। ग्रन्थ में आए 'वृद्धव्यवहार' से तात्पर्य है- प्रयोजक कर्ता, प्रयोज्य कर्ता, और व्युत्पतृ। प्रयोजक कर्ता वह वक्ता है, जो आदेश देकर दूसरों से कार्य करवाता है। यह भाषा का ज्ञाता और अनुभवी व्यक्ति होता है। प्रयोज्य कर्ता वह है, जो कि श्रोता है और प्रयोजक कर्ता के आदेश से कार्य करता है। पाणिनि ने प्रयोजक को हेतु भी कहा है[1] अर्थात् कर्ता के प्रयोजक-प्रेरक की हेतु और कर्तृ संज्ञा होती है। जब कर्ता को कार्य में प्रवृत्त करने वाला दूसरा होता है, तब उस दूसरे को कर्ता तो कहा ही जाता है। इसके अतिरिक्त उसे हेतु भी कहा जाता है। जैसे- 'देवदत्त खाता है' इस वाक्य में देवदत्त खाना क्रिया का कर्ता है। 'यज्ञदत्त देवदत्त को खिलाता है' इस वाक्य में देवदत्त कर्ता का प्रेरक यज्ञदत्त है, इसको हेतु और कर्ता भी कहते हैं। प्रथम कर्ता को प्रयोज्य कर्ता कहते हैं और प्रेरणा के कर्ता को प्रयोजक कर्ता व्युत्पतृ वह बालक है, जो कि अभी भाषा सीख ही रहा है, इसे भाषा का ज्ञान नहीं है और यह प्रयोजक और प्रयोज्य के मध्य वार्तालाप और आवापोद्वाप की प्रक्रिया द्वारा भाषा का ज्ञान प्राप्त करता है। मुख्यावृति में जिस वाचक शब्द की चर्चा आयी है, वह वाचक शब्द भी अनिवार्यत: व्याख्येय है क्योंकि वाचक शब्द में वाच्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति होती है, यह समझने के लिए वाचक शब्द का स्वरूप समझना भी आवश्यक है।

वाचक शब्द का स्वरूप (१.२)-

जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को अभिधा शक्ति के द्वारा कहता है, वह वाचक शब्द कहलाता है[2] अर्थात् जिस शब्द का जिस अर्थ में अव्यवधान से संकेत का ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का 'वाचक' होता है। लोकव्यवहार में 'आवापोद्वाप' की प्रक्रिया द्वारा छोटे बालको को संकेत ग्रहण होता है। आवापोद्वाप का तात्पर्य है- किसी पद को रखना और किसी पद को

[1] 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' – लघु. सि. कौ.१/४/४४ ।

[2] " साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचक:" ॥९॥ का.प्र.,पृ.-४२

हटाना। छोटे बालक को यह ज्ञान नहीं होता कि किस शब्द का क्या अर्थ है, कौनसा शब्द किस अर्थ बोध के लिये प्रयुक्त होता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता नौकरादि को आज्ञा देते हैं कि 'जरा कलम उठा दो'। बालक न कलम को जानता है, न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और नौकर के व्यापार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समष्टि वाक्य के समष्टिभूत अर्थ का एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दवात उठा दो'। बालक फिर इस वाक्य को सुनता है और नौकर को तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देख कर बालक धीरे-धीरे कलम, दवात, उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से संकेत-ग्रहण होता है। इस प्रक्रिया में पहले उत्तम वृद्ध अर्थात् बालक के पिता आदि ने मध्यम वृद्ध अर्थात् बालक के बड़े भाई या नौकर आदि को कलम उठाने की आज्ञा दी। फिर कलम रखकर दवात उठाने की आज्ञा दी और मध्यम वृद्ध ने उसी के अनुसार कार्य सम्पन्न किया। उस व्यवहार में एक शब्द को हटाकर (उद्वाप) जो दूसरे शब्द का निवेश (आवाप) किया गया, इसी प्रक्रिया को 'आवापोद्वाप' कहते हैं। व्यवहार में इसी से संकेत- ग्रह होता है। यही संकेतग्रह का प्रधान साधन है परन्तु उसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी माने गये हैं, जिनका संग्रह मुक्तावलीकार ने किया है।[1] व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध-ज्ञात पद के सान्निध्य से भी शक्ति या संकेत का ग्रहण माना जाता है। इन सबमें सबसे मुख्य उपाय व्यवहार है क्योंकि अधिकांश शब्दों का सबसे पहले शक्तिग्रह व्यवहार से ही होता है। इनमें 'भू सत्तायाम्' आदि धातुपाठ से अथवा 'साधकतमं करणम्' आदि सूत्रों से भू-धातु तथा करण आदि पदों का संकेतग्रह व्याकरण के द्वारा

[1] "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा:॥ १९॥- शब्दखण्ड, कारिका., पृ.-९०।

होता है । 'यथा गौस्तथा गवय:' यह उपमान प्रमाण का उदाहरण है । यहाँ सादृश्यज्ञान से अर्थात् गाय के समान गवय होता है, इस वाक्य से गवय (नीलगाय) पद का संकेतग्रह हो जाता है । कोश तथा आप्तवाक्य (यथार्थ वक्ता) पिता आदि के बतलाने से भी संकेतग्रह होता है। विवृति अर्थात् विवरण करने से भी शक्तिग्रह होता है । जैसे- 'घट है' इसका अर्थ- 'कलश है' यह कहने पर यह सिद्ध होता है कि 'घट' और 'कलश' पद का एक ही अर्थ है । वाक्यशेष और सिद्ध पद के सान्निध्य से भी पद की शक्ति का ज्ञान होता है । जैसे- इस आम्र वृक्ष पर पिक मधुर बोल रही है । इस वाक्य में पिक पद का अर्थ छोड़कर अन्य पदों का अर्थ जानने वाला व्यक्ति आम के पेड पर बैठकर मधुर बोलने वाले पक्षी में पिक पद का संकेतग्रह (ज्ञान) करता है । अर्थात् ज्ञात अर्थवाले पद की सन्निधि से अज्ञात पद का अर्थ भी जान लेता है । इस प्रकार ये सब शक्तिग्रह के उपाय माने गये हैं ।

संकेतग्रह से सम्बन्ध रखने वाला एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि यह शक्तिग्रह किसमें होता है? अर्थात् संकेतग्रह का विषय कौन है ? तो इसका उत्तर देते हुये मम्मट कहते हैं कि संकेतित अर्थ जाति , गुण, क्रिया तथा यदृच्छा भेदों से चार प्रकार का होता है ।[1] उक्त कारिकांश में संकेतित अर्थ के विषय में (1) 'जात्यादि' और (2) 'जातिरेव वा- ये दो पक्ष दिखाये गये हैं । इसमें 'जात्यादि' ये पक्ष वैयाकरणों तथा उनके अनुगामी अलंकारशास्त्रियों का है और 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष मीमांसको का है । 'जात्यादि:' रूप प्रथम पक्ष के अनुसार जाति , गुण, क्रिया तथा यदृच्छा रूप वस्तु के उपाधिभूत इन चार धर्मों में संकेतग्रह होता है । इस पक्ष का आधार 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति: जातिशब्दा:, गुणशब्दा, क्रियाशब्दा:, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था:' यह महाभाष्य का वचन है । मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द की शक्ति या संकेतग्रह होता है अर्थात् केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्ति-

[1] " संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा" ॥ १०॥ – द्वितीय उल्लास, का. प्र., पृ० ४३ ।

निमित्त मानना उचित है। जाति शब्दों के समान गुण, क्रिया, तथा यदृच्छा- शब्दों में भी जाति में ही शक्तिग्रह मानना चाहिये। नैयायिकों के मत में न केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानना चाहिये और न केवल जाति में। केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष आ जाते हैं तो केवल जाति में संकेत ग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की ही उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो पाता। इसीलिये जातिविशिष्टव्यक्ति में संकेतग्रह मानना चाहिये, यह नैयायिक मत है।[1] नैयायिक पद (वाचक) की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि शक्ति से जो विशिष्ट होता है, वह पद कहलाता है।[2] दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वाचक या पद वह होता है, जिसमें अपने वाच्य अर्थ को बतलाने की शक्ति विद्यमान होती है। यह पद ध्वनिरूप होता है, जो कि अर्थ को अभिव्यक्त करने के सामर्थ्य से युक्त होता है। जबकि वैयाकरण पद को परिभाषित करते हुये कहते है कि सुबन्त और तिङन्त पद कहलाते हैं।[3] सुपादि या तिङन्तादि प्रत्यय जिसके अन्त में हो, वह पद कहलाता है। पद में शक्ति के होने की अनिवार्यता यहाँ नहीं है। वैयाकरण शास्त्रीय दृष्टि से ये पद को स्फोट कहते हैं। यह स्फोटरूप शब्द ही वाचक कहा जाता है, ध्वनिरूप शब्द नहीं। यह स्फोट बुद्धिस्थ पद है, जो कि बुद्धिस्थ अर्थ को उत्पन्न करता है और इस बौद्ध अर्थ से स्थूल अर्थ का ज्ञान होता है। अत: बौद्ध पद (स्फोट) वाचक है और बौद्ध अर्थ वाच्य कहा गया है। मीमांसा और वेदान्त में भी पद का शक्तियुक्त होना ही स्वीकृत है। पद की शक्ति के कारण ही अर्थ का बोध हो पाता है। इसीलिए ग्रन्थ में कहा गया है कि- 'शब्दो गृहीतशक्तिको भवति'। प्रयोजक कर्ता के द्वारा इस शक्तियुक्त पद का उसी अर्थ में (जिस अर्थ को शक्तियुक्त पद प्रकट कर रहा है उसी अर्थ में) प्रयोग करने पर शब्द की, जो शक्ति उस प्रसिद्ध अर्थ को बताने वाली होती है, उसे ही मुख्यावृत्ति कहते हैं।

---

[1] 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ:'-२/२/६८, न्या.सू.

[2] "शक्तं पदम्" – शब्दखण्ड,कारिका., पृ. १०८

[3] "सुप्तिङन्तं पदम्"- लघु.सि.कौ., पृ.-२

जैसे- गो शब्द का प्रसिद्ध अर्थ गोत्व या सास्नादि युक्त आकृति विशेष होता है तथा गो शब्द में इस अर्थ को बतलाने की शक्ति होती है। अत: 'गामानय' इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में शक्तियुक्त गो शब्द की इसी सास्नादियुक्त आकृति अर्थ में गो शब्द की जो वृत्ति (शक्ति) होगी, उसे ही मुख्यवृत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सास्नादियुक्त आकृति अर्थ को बताने वाली 'गो' शब्द की जो शक्ति होती है, उसे ही मुख्यवृत्ति कहते हैं।

वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजध्वरीन्द्र ने मुख्यवृति को ही शक्ति भी कहा है। वे कहते हैं कि पदार्थ दो प्रकार के होते हैं- शक्य और लक्ष्य। शक्य का अर्थ है- शक्तिरूप वृत्ति से युक्त और लक्ष्य का अर्थ है- लक्षणा रूप वृत्ति से युक्त। पदों के वाच्य अर्थ में स्थित मुख्यवृत्ति को ही शक्यपद की घटक शक्ति कहते हैं। जैसे- 'घट' पद की तल तथा मध्य भाग में वर्तुलाकार से युक्त वस्तु विशेष में रहने वाली वृत्ति ही शक्ति कही जाती है। वह शक्ति अतिरिक्त पदार्थ है क्योंकि कारण में विद्यमान होती हुई कार्योत्पत्ति के अनुकूल (जनक) समस्त शक्ति को सिद्धान्त में पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] मीमांसक भी शक्ति को एक पृथक् पदार्थ ही स्वीकार करते हैं। जबकि नैयायिक शक्ति को पृथक् पदार्थ नहीं मानते। उनका मत है कि पद के साथ अर्थ का जो सम्बन्ध है, उसे ही शक्ति कहते हैं। यह शक्ति द्रव्यादि सात पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। 'इस पद से यह अर्थ समझना' इत्याकारक जो ईश्वरेच्छा (आत्मगुणरूप पदार्थ) उसी में शक्ति का अन्तर्भाव होता है।

लक्षणा वृत्ति (१.३)–

सर्वप्रथम अभिधाशक्ति ही अपने अर्थ का अर्थात् वाच्यार्थ का बोध कराती है परन्तु जहाँ कहीं वाच्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा होती है, वहाँ शब्द

[1] पदार्थश्च द्विविध:-शक्यो लक्ष्यश्चेति। तत्र शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्ति: , यथा घटपदस्य पृथुबुध्नोदराद्याकृति-विशिष्टे वस्तुविशेषे वृत्ति:। सा च शक्ति: पदार्थान्तरम्। सिद्धान्ते कारणेषु कार्य्यानुकूल-शक्तिमात्रस्य पदार्थान्तरत्वात्।- आगमपरिच्छेद, वे.प. , पृ.- २०५

की द्वितीय वृत्ति लक्षणा वाक्यार्थ समन्वय हेतु उपस्थित होती है और लक्षणा जिस अर्थ को प्रकट करती है, उसे 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है और लक्ष्यार्थ को प्रकट करने वाली इसी शब्दशक्ति को 'लक्षणावृत्ति' कहा जाता है । काव्यप्रकाशकार मम्मट भी लक्षणा की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि- मुख्यार्थ का बाध अर्थात् अन्वय की अनुपपत्ति होने पर, मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का सम्बन्ध होने पर, रूढ़ि से अथवा प्रयोजन विशेष से जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का आरोपित व्यापार लक्षणा कहलाता है ।[1] लक्षणा शक्ति के व्यापार के लिए मुख्यार्थ बाध, लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा रूढ़ि या प्रयोजन से अन्यतर इन तीन कारणों की आवश्यकता होती है । जैसे- 'कर्मणि कुशल:' अर्थात् चित्रकर्म आदि किसी विशेष 'कर्म में कुशल है', इस वाक्य प्रयोग में 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशल:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों के लाने का कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ का बाध होता है और 'गंगायां घोष:' इत्यादि में गंगा पद के जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ आदि में आभीर-पल्ली आदि का आधारत्व सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध होने पर प्रथम उदाहरण में विवेकत्वादि और दूसरे उदाहरण में सामीप्य-सम्बन्ध होने पर प्रथम उदाहरण में कुशल पद के दक्ष रूप अर्थ में रूढ़ होने के कारण रूढि से अर्थात् प्रसिद्धि से और 'गंगातटे घोष:' इत्यादि मुख्य शब्द के प्रयोग से जिन शैत्य, पावनत्वादि धर्मों की उस रूप में प्रतीति नहीं है, उन शैत्य, पावनत्वादि धर्मों के उस प्रकार के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन से मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है ।

नैयायिक भी लक्षणा को स्वीकार करते हैं । कारिकावली में विश्वनाथ कहते हैं कि शक्य सम्बन्ध का नाम लक्षणा है ।[2] तात्पर्य की अनुपपत्ति जहाँ ज्ञात होती है, उस जगह लक्षणा से

---

[1] मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् । अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया" ॥ ९॥ का. प्र., पृ.- ५१

[2] "लक्षणा शक्यसंबन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित:" ॥८२॥ न्या.सि.मु. ,पृ.- १८१ ।

पदार्थ की स्मृति और शाब्द बोध होते हैं। "गंगायां घोष:" इस वाक्य में शक्य अर्थात् मुख्य अर्थ को सम्बन्धी मानकर उसके साथ सम्बन्ध वाला अमुख्य अर्थ है और उसका बोध कराने वाली वृत्ति लक्षणा है। वह तात्पर्य की अनुपपत्ति से प्रवृत्त होती है अर्थात् शक्य सम्बन्ध लक्षणा है और वह तात्पर्य की अनुपपत्ति से होती है। 'गंगायां घोष:' इत्यादि में गंगा पद का प्रवाहरूप शक्य अर्थ में घोष की अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति से जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ लक्षणा से तीर अर्थ का बोध होता है।[1] वह लक्षणा शक्यसम्बन्ध रूप है। प्रवाह रूप शक्य-सम्बन्ध का तीर में गृहीत होने से उससे तीर का स्मरण होता है, उसके बाद शाब्दबोध होता है।

वेदान्त में लक्षणा को प्रारम्भ से ही स्वीकार्यता प्राप्त रही है क्योंकि इसी के द्वारा महावाक्यों के अखण्डार्थ का ज्ञान होता है। शंकराचार्य भाष्य में लक्षणा का संकेत मात्र करते हैं। परन्तु उनके *वाक्यवृत्ति* नामक ग्रन्थ में वे लक्षणा को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर मुख्य अर्थ का अन्य प्रमाणों के साथ विरोध रहने से उसका (मुख्यार्थ का) का ग्रहण नहीं किया जाता, वहाँ पर मुख्य अर्थ के साथ अविनाभूत (नित्य-सम्बन्ध) अर्थ की कल्पना करना ही लक्षणा है।[2] आगे वेदान्ताचार्यों में लक्षणा की स्पष्टता को विस्तार प्राप्त होता गया। वेदान्ताचार्य सर्वज्ञात्मन् ने लक्षणा के लक्षण में कहा है कि– मुख्यार्थ ग्रहण में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ को बतलाने वाली शब्द की जो वृत्ति (शक्ति) होती है, उसे लक्षणावृत्ति कहा जाता है। ध्यातव्य है कि लक्षणा के लिए तीन अनिवार्यताएँ हैं - मुख्यार्थ का ज्ञान हो, प्रमाणान्तर से मुख्यार्थ का बाध हो, तथा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ हो।

---

[1] गंगायां घोष इत्यादौ गंगापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसंधीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोध इति। वही०, पृ० १८२

[2] "मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे। मुख्यार्थेनाऽविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते" - वा.वृ.- पृ०-९८

जैसे- "गंगा में घर" इस वाक्य में गंगा पद का मुख्य (शब्द श्रवण होते ही प्रथमत: मन में उपस्थित होने वाला) अर्थ 'जल प्रवाह' निकल रहा है। यहाँ पर प्रत्यक्ष प्रमाण से मुख्यार्थ का बाध हो रहा है क्योंकि जल प्रवाह में घोष का वृत्तित्व (रहना) सम्भव नहीं है। घर के लिए स्थिर आधार की आवश्यकता होती है। अत: यहाँ मुख्यार्थ (जल प्रवाह) से सम्बन्धित गंगा शब्द के उस अर्थ की कल्पना की जाती है, जिसका की वाक्यार्थ में समन्वय हो। अत: गंगा का "गंगा तट" रूप अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो कि मुख्यार्थ से सम्बद्ध भी है और इसका वाक्यार्थ में समन्वय भी हो रहा है। यहाँ प्रथमत: तट का ज्ञान नहीं होता किन्तु प्रवाह रूप शक्य (मुख्य) अर्थ का ज्ञान होने के अनन्तर होता है। इस कारण गंगा पद का उस लक्ष्य अर्थ (तट) के साथ मुख्य सम्बन्ध न होकर अमुख्य सम्बन्ध है। अत: "गंगा तट पर घर" इस अर्थ का ग्रहण करवाने वाली शब्द की वृत्ति ही लक्षणावृत्ति कही गई है।

गुणवृत्ति (१.४)–

गुण वृत्ति की कल्पना वेदान्त में ही मौलिक रूप से पाई जाती है। सर्वज्ञात्मन् ने इसे ही गौणी वृत्ति भी कहा है। मुख्यार्थ का ग्रहण होने पर, प्रमाणान्तर से उस मुख्यार्थ का बाध होने पर, मुख्यार्थ के गुणों से युक्त अन्य अर्थ का ग्रहण करवाने वाली शब्द की वृत्ति गुण वृत्ति कहलाती है। जैसे- "सिंहो देवदत्त:" इस वाक्य का मुख्यार्थ है कि 'देवदत्त सिंह है', परन्तु यहाँ पर भी प्रत्यक्ष प्रमाण से इसका बाध हो रहा है क्योंकि देवदत्त तो मनुष्य है तथा सिंह एक पशु है, अत: एक मनुष्य पशु नहीं हो सकता। अत: यहाँ पर सिंह का पशु रूप अर्थ का बाध होने पर उसके गुणों क्रोध, शौर्यादि रूप अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अर्थात् देवदत्त क्रौर्यशौर्यादि गुणों वाला है – यह समन्वित वाक्यार्थ गौणीवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है।

यद्यपि 'परशब्दवृत्ति: अपरत्र भवेद्' अर्थात् 'अन्यार्थ वाचक शब्द की अन्य अर्थ में वृत्ति'- यह लक्षण दोनों (गौणी तथा लक्षणा) में समान है तथापि इन दोनों का भेदक अतिस्पष्ट

अवान्तर लक्षण होता है। यहाँ 'गंगायां घोष:' में 'गंगा' पद स्वार्थ से भिन्न तीरार्थ में तथा 'सिंह माणवक:' में 'सिंह' पद स्वार्थ से भिन्न 'क्रौर्यशौर्यार्थक' में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार 'परशब्द की परार्थ में प्रवृत्ति'– इतना मात्र तो दोनों में समान ही है, किन्तु उनके अवान्तर लक्षणों से उनका भेद नितान्त स्पष्ट हो जाता है।[1] अर्थात् लक्षणा और गुण इन दोनों ही वृत्तियों में अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है, यह समानता तो है दोनों में परन्तु दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से ये दोनों भिन्न भिन्न वृतियाँ मानी गई हैं। गुणयोग से गुणवृत्ति मानी जाती है तथा सम्बन्ध मात्र से दूसरी लक्षणावृत्ति मानी जाती है[2] अर्थात् जहाँ वाक्य में आधाराधेय सम्बन्ध होता है, वहाँ पर लक्षणा की प्रवृत्ति होती है तथा गुण-गुणी सम्बन्ध होने पर गौणी वृत्ति की प्रवृत्ति होती है। जैसे कि "गंगायां घोष:" में गंगा शब्द में सप्तमी विभक्ति का "डि." प्रत्यय लगा है, जिसका अर्थ ही अधिकरणत्व होता है। अत: यहाँ गंगा साधारण गंगा न होकर अधिकरणत्व विशिष्ट गंगा है, अर्थात् गंगा आधार है तथा घोष आधेय है। अत: आधाराधेय सम्बन्ध के कारण यहा लक्षणा-वृत्ति की प्रवृत्ति देखी जाती है। जबकि "सिंहो देवदत्त:" में गुण-गुणी सम्बन्ध होने से गौणी वृत्ति द्वारा समन्वित वाक्यार्थ प्राप्त किया जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने स्पष्ट रूप से लक्षणा में ही गौणीवृत्ति का भी अन्तर्भाव कर दिया है। ये लक्षणा के दो प्रकार मानते हैं – केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा। ये गौणीवृत्ति को लक्षित लक्षणा में ही अन्तर्भूत बताते हैं।[3]

---

[1] " परशब्दवृत्तिरपरत्र भवेदिति, यद्यपीदमुभयो: सदृशम्। अनयोस्तथाऽपि तु विभागकरं स्फुटमस्ति लक्षणामवान्तरकम्" ॥ १७१॥ स.शा., पृ.- ११६

[2] " गुणतो गुणवृत्तिरिष्यते ह्यपरा लाक्षणिकी तु संगते:। इति भेदकमस्ति लक्षणा गुणवृत्योरिति वेदवादिन:" ॥ १७२॥ वही०, पृ०- ११६

[3] "गौण्यपि लक्षित-लक्षणैव" – वे.प., पृ० २२४ ।

मूल ग्रन्थ (२)-

एतासां तिसृणां मुख्यगुणवृत्त्योरेकविधत्वमेव । लक्षणा पुनस्त्रिविधा- जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति । तत्र जहल्लक्षणा नाम शब्दस्य मुख्यार्थपरित्यागेन अर्थान्तरे वृत्तिः; यथा गंगाशब्दस्य स्वार्थ-(स्वार्थमात्र)- परित्यागेन तीरमात्रे वृत्तिः । अजहल्लक्षणा तु पुनः मुख्यार्थमपरित्यज्य कृत्स्नमेव स्वार्थमुपादाय अर्थान्तरे वृत्तिः; यथा 'शोणस्तिष्ठति' इत्यश्वलक्षणायां शोणशब्दस्य शोणिमानं गृहीत्वैवाश्वव्यक्तौ वृत्तिः । जहदजहल्लक्षणा तु मुख्यार्थपरिग्रहे सति मुख्यार्थैकदेशपरित्यागेन शब्दस्यैकदेशान्तरे वृत्तिः; यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये सोऽयमंपदयोः देशकालशबलवाचिनोः देशकालभागपरित्यागेन देवदत्तव्यक्तौ वृत्तिः । एवमेषा त्रिविधा लक्षणा लोके प्रसिद्धा ।

अनुवाद (२)-

इन तीनों वृत्तियों में मुख्यवृत्ति और गुणवृत्ति ये दोनों एक ही प्रकार की कही गई है, जबकि लक्षणा तीन प्रकार की बताई गई है- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा । जहल्लक्षणा शब्द की वह वृत्ति है, जहाँ शब्द के सम्पूर्ण मुख्यार्थ का परित्याग करके, मुख्यार्थ सम्बन्धी किसी अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है । जैसे- "गंगायां घोषः" में गंगा शब्द का स्वार्थ छोड़कर तीर अर्थ में वृत्ति । अजहल्लक्षणा में मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना अर्थात् सम्पूर्ण मुख्यार्थ को ग्रहण करके अन्य अर्थ में वृत्ति होती है । जैसे- "शोणस्तिष्ठति" में शोण शब्द का शोणीमान अर्थ गृहण करके अश्वव्यक्ति में वृत्ति । जहदजहल्लक्षणा में मुख्यार्थ का ग्रहण होने पर मुख्यार्थ के एकभाग का परित्याग करके, शब्द के एकभाग में वृत्ति होती है । जैसे- "सोऽयं देवदत्तः" इस वाक्य में देशकालविशिष्टवाची 'सः' तथा 'अयं' इन शब्दों में देशकालरूप भाग का परित्याग करके देवदत्तव्यक्ति में वृत्ति । इस प्रकार लक्षणा के तीन प्रकार लोक में प्रसिद्ध हैं ।

विश्लेषण (२)-

शब्द की लक्षणा वृत्ति तीन प्रकार की मानी गई है। (1) कोई वाच्यार्थ का त्याग करती है (2) दूसरी वाच्यार्थ का त्याग नहीं करती और (3) तीसरी एक भाग का त्याग करती है तथा अन्य भाग का त्याग नहीं करती।[1]

जहल्लक्षणा (२.१) - वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहल्लक्षणा' कहलाती है। जैसे- " गंगायां घोष:" इस वाक्य में गंगा शब्द अपने वाच्यार्थ का पूर्णतया परित्याग करके अपने से सम्बद्ध 'तट' रूप अर्थान्तर का लक्षणा से बोध कराता है। इसको 'लक्षण-लक्षणा' भी कहा जाता है।

अजहल्लक्षणा (२.२) - वाच्यार्थ का बिना परित्याग किए हुए वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति 'अजहल्लक्षणा' कहलाती है। इसे ही 'उपादान-लक्षणा' भी कहते है। जैसे- 'शोणो धावति' अर्थात 'लाल दौड. रहा है'। घुड़ दौड़ के अवसर पर किसी ने पूछा 'कौनसा घोड़ा दौड़ा रहा है'? इसके उत्तर में किसी ने कहा 'लाल दौड़ रहा है' (शोणो धावति)। इस उदाहरण में लाल वर्ण जड होने के कारण 'धावति' क्रिया के कर्त्तारूप से वाक्यार्थ में अन्वित नहीं हो सकता है। इसलिए वाक्यार्थ में अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'शोण' शब्द अपने वाच्यार्थ का बिना परित्याग किए हुए अपने से सम्बद्ध 'शोण वर्ण वाला अश्व' इस अर्थान्तर का अजहल्लक्षणा से बोध कराता है।

जहदजहल्लक्षणा (२.३) - वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग का ग्रहण कर लिया जाता है। एक भाग का

[1] शब्दस्य लाक्षणिक वृत्तिरपि त्रिधैषा, काञ्चिज्जहाति न जहाति च वाच्यमन्या। भागं जहाति न जहाति च भागमन्या सोऽयं त्रिधा भवति लाक्षणिक प्रकार: ॥ १५४॥ स.शा., पृ.- १०६

परित्याग करने से इसे 'भागत्याग लक्षणा' और भाग मात्र को ग्रहण करने से 'भागलक्षणा' भी कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्त:' इस वाक्य में 'स:' पद का वाच्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त है और 'अयं' पद का वाच्यार्थ वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है। ये दोनों वाच्यार्थ परस्पर विरूद्ध हैं। वाच्यार्थों में विरोध होने से इनके वाचक पद भी एक-दूसरे के विरूद्ध हुए। दोनों पदों में सामानाधिकरण्य के कारण जो एक वाक्यार्थ प्रतीत हो रहा है, वह उन पदों में परस्पर विरोध होने के कारण तब तक सिद्ध नहीं हो सकता है, जब तक कि लक्षणा के द्वारा उस विरोध की निवृत्ति न हो जाये। जहदजहल्लक्षणा के द्वारा दोनों पदों के वाच्यार्थों में तत्कालविशिष्टत्वरूप और एतत्कालविशिष्टत्वरूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करके अविरुद्धांश देवदत्त को ग्रहण कर लिया जाता है। इस उदाहरण में 'स:' और 'अयं' पद अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ विरुद्धांश से रहित होकर 'लक्षण' या 'लक्षक' हैं और अविरुद्ध देवदत्त 'लक्ष्य' है।

मूल ग्रन्थ (३) -

ननु मुख्यगुणलक्षणावृत्तीनां मध्ये कतमा प्रत्यगात्मनि शब्दस्य वृत्तिरिति, तत्र ब्रूम: - मुख्यां वृत्तिं वर्जयित्वा गुणलक्षणावृत्त्यो: प्रत्यगात्मन्यप्रतिषेध:। षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढानां लौकिकानामभावात् प्रत्यगात्मनि मुख्या वृति: प्रतिषिध्यत एव। न खलु "नेति नेति" प्रतिसिद्धसमस्तविशेषणे प्रत्यगात्मनि वाङ्मनसगोचरातीते षष्ठयादिसंभवोऽस्ति, येन मुख्या वृत्तिर्घटेत। तस्माद् गौणी लक्षणा वा शब्दस्य प्रत्यगात्मनि वृत्ति:।

"प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वादात्मदृष्टयनुशीलनात्"

इति गुणयोगादहमादिशब्दस्य गौणी प्रत्यगात्मनि वृत्तिरङ्गीकृतैव। लक्षणापि जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा च नेष्यते ; जहदजहल्लक्षणा त्वङ्गीक्रियते पारोक्ष्यसद्वितीयशबले व्युत्पन्नयो: तत्त्वंपदयो: एकांशपरित्यागेनांशान्तरे वृत्तिसम्भवात्, 'सोऽयम्' इत्यादिवाक्यस्थपदयोरिव। तस्माज्जहदजहल्लक्षणया प्रत्यगात्मां बोध्यते; न गायत्रीवैश्वानरादिशब्दवत् स्वार्थापरित्यागेनाजहल्लक्षणा ; नापि "यजमान: प्रस्तर:" "यजमान एककपाल:" इत्यादिवत् स्वार्थपरित्यागेन जहल्लक्षणयेति सिद्धम्॥

अनुवाद (३) -

मुख्यवृत्ति, गुणवृत्ति तथा लक्षणावृत्ति इन तीनों में से कौनसी शब्द की वृत्ति प्रत्यगात्मा अर्थ को बतलाने में समर्थ है ? तब कहते हैं कि – प्रत्यगात्मा अर्थ को बतलाने में मुख्यवृत्ति को छोड़कर गुण और लक्षणा वृत्ति का अप्रतिषेध कहा है अर्थात् स्वीकृति कही गई है। षष्टी अर्थात् सम्बन्ध, गुण, क्रिया तथा जाति– इन चारों लौकिक तत्वों का प्रत्यगात्मा में अभाव होने के कारण मुख्यावृत्ति का प्रतिषेध प्राप्त होता ही है। "नेति नेति" इस प्रकार के प्रतिषिद्ध विशेषणों से बताये जाने वाले तथा वाणी, मनस् आदि से अगोचर अर्थात् अतीत प्रत्यगात्मा में सम्बन्धादि सम्भव नहीं हैं, जिससे कि मुख्यवृत्ति घटित होती है। इसलिये शब्द की गौणी और लक्षणा वृत्ति ही प्रत्यगात्मा में सम्भव है। प्रत्यक् रूप होने से, अतिसूक्ष्म होने से तथा बुद्धि का अनुसरण करता हुआ सा प्रतीत होने से अर्थात् इस प्रकार के गुणों से युक्त होने से अहमादि शब्दों की गौणी वृत्ति प्रत्यगात्मा अर्थ में स्वीकार की गयी है। लक्षणा में जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा स्वीकार नहीं की गई है। 'सोऽयं देवदत्त:' इस वाक्य में आये हुए 'सोऽयं' इत्यादि पदों की तरह (तत्त्वमसि महावाक्य में) पारोक्ष्यत्वादिविशिष्ट 'तत्त्वं' पदों से व्युत्पन्न वाच्यार्थ के एकांश का परित्याग करने पर, दूसरे अंश में वृत्ति सम्भव होने से जहदजहल्लक्षणा ही अंगीकृत है। अत: जहदजहल्लक्षणा के द्वारा ही प्रत्यगात्मा को जाना जाता है, न कि गायत्री और वैश्वानरादि शब्दों की तरह वाच्यार्थ का परित्याग किये बिना अजहल्लक्षणा के द्वारा अर्थ ज्ञात किया जाता है। न ही "यजमान: प्रस्तर:" "यजमान: एककपाल:" इत्यादि वाक्यों की तरह स्वार्थ (वाच्यार्थ) का त्याग करके जहल्लक्षणा के द्वारा सिद्धि होती है।

विश्लेषण (३)-

तीनों शब्द वृत्तियों के वर्णन के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन तीनों मुख्य, गुण तथा लक्षणा वृत्तियों में से कौनसी वृत्ति प्रत्यगात्मा में सम्भव है अर्थात् प्रत्यगात्म रूप

अखण्ड अर्थ को प्रस्तुत करने में सक्षम है? प्रत्यगात्मा शब्द यहाँ पर शुद्ध आत्मा अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। संक्षेपशारीरक में सर्वज्ञात्ममुनि प्रत्यगात्मन् शब्द को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्थूल शरीर तथा बाह्य करण की अपेक्षा से अन्त: करण आन्तरिक (प्रत्यग्) है, अत: अन्त:करण में (कल्पित) प्रत्यग्रूपता है। अन्त:करण की अपेक्षा भी आत्मा आन्तर (प्रत्यग्) है, अत: आत्मा में प्रत्यग्रूपता अन्य (पारमार्थिक) है। अन्त: करण विशिष्ट आत्मा में अन्योऽन्याध्यास- प्रयुक्त प्रत्यग्रूपता अन्य (उभयविलक्षण) है।[1] यह 'आत्मा' शब्द उसी विशिष्टार्थक का वाचक है। अत: सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि इस अखण्ड प्रत्यगात्मा अर्थ को बतलाने में मुख्यवृत्ति को छोडकर गौणी तथा लक्षणावृत्ति ही सक्षम मानी जा सकती है। शंकर ने गीताभाष्य में शब्दों के चतुर्विध संकेत ग्रहण का सोदाहरण वर्णन किया है। अर्थ का प्रकाश करने के लिये वक्ता द्वारा बोले जाने वाले और श्रोता द्वारा सुने जाने वाले सभी शब्द जाति,क्रिया, गुण और सम्बन्ध द्वारा संङ्केत ग्रहण करवा कर ही अर्थ की प्रतीति कराते हैं। जैसे- गाय या घोड़ा यह जाति से, पकाना या पढ़ाना यह क्रिया से, सफेद या काला यह गुण से और धनवान् या गायवाला यह सम्बन्ध से शब्द का बोध कराता है अर्थात् शब्द चार प्रकार के हैं– जातिरूप, गुणरूप, क्रियारूप एवं सम्बन्धरूप[2] और ये चारों ही ब्रह्म में नहीं पाए जाते। ब्रह्म इनसे भी परे हैं। अत: सङ्केतग्रह से भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सर्वज्ञात्मन् भी कहते हैं कि अभिधा शब्दवृत्ति महावाक्यों के अभीष्ट अर्थ को नहीं बता सकती क्योंकि सङ्केतग्रह से केवल जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध का ही ग्रहण हो पाता है और ये चारों ही ब्रह्म में नहीं पाये जाते। साहित्यशास्त्र सम्बन्ध के स्थान पर द्रव्य को रखते हैं परन्तु वेदान्ती द्रव्य के स्थान पर सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं । ब्रह्म में सम्बन्ध नहीं पाया जाता क्योंकि सम्बन्ध के लिए कम से कम दो

---

[1] "प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ, प्रत्यग्भाव: कश्चिदन्य: प्रतीचि। प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्तत्र चान्यो, व्युत्पन्नोऽयं तत्र चाऽऽत्मेति शब्द:" ॥ १५९॥ स.शा., पृ.- ११०

[2] "सर्वो हि शब्द: अर्थप्रकाशनायप्रयुक्त: श्रूयमाण: च श्रोतृभि: जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण संङ्केतग्रहणसव्यपेक्ष अर्थं प्रत्ययायति। तद् यथा गौ: अश्व इति वा जातित:, पचति पठति इति वा क्रियात: , शुक्ल: कृष्ण: इति वा गुणत:, धनी गोमन् इति वा सम्बन्धत:" ।- गी.शां.भा.८.१२

तत्त्वों का होना आवश्यक है ।[1] जबकि ब्रह्म तो एक, अद्वितीय तत्त्व है । श्रुति भी इसी बात का समर्थन करती है ।[2] अत: ब्रह्म में सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

ब्रह्म में गुणों का होना भी सम्भव नहीं है क्योंकि श्रुति ब्रह्म को निर्गुण बताती है । गुणों का सम्बन्ध है भी तो शुद्ध ब्रह्म से तो नहीं है । वे ईश्वर नामक (अज्ञानोपहित ब्रह्म) में पाए जाते हैं । ब्रह्म का स्वरूप तो निर्गुण व निराकार बताया गया है ।[3] अत: ब्रह्म में गुणों का अभाव होना स्पष्ट है ।

प्रत्यगात्मा (ब्रह्म) में जाति नहीं पाई जाती क्योंकि जाति वह नित्य तत्व है जो एक है तथा अनेक में अनुगत है।[4] जबकि ब्रह्म अनेक न होकर एक, अद्वितीय तत्त्व है । श्रुति भी इसी बात का समर्थन करती है ।[5] अत: ब्रह्म में जाति होने की तो सम्भावना भी नहीं बनती ।

ब्रह्म क्रिया से भी रहित है । ब्रह्म तो सर्वव्यापक, सर्वगत, असीमित तत्व है, अत: क्रिया करने के लिए कोई रिक्त स्थान ही शेष नहीं रहता कि ब्रह्म वहाँ गति कर सकें । वह तो पहले ही सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है, उसे क्रिया करने की आवश्यकता ही नहीं होती । श्रुति भी ब्रह्म के निष्क्रिय होने का ही प्रतिपादन करती है ।[6]

इसी बात को संक्षेपशारीरक में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि- सम्बन्ध, जाति, गुण और क्रियादि से रहित सर्वसाक्षी अपरोक्ष, निखिल द्वैत-प्रपञ्चशून्य, चैतन्यस्वरूप, व्यवधान

---

[1] "सम्बन्ध: द्विष्ठ:" नव्य. भा. प्र., पृ०- ६८

[2] "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"— ६/१४/१, छा.उ.

[3]"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महत: परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"- १/३/१५, क.उ.,पृ०- २१४

[4] " नित्यमेकमनेकानुगतं जाति:" - त.स., पृ०- १४

[5] "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"- ६/१४/१, छा.उ.

[6] "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महत: परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"- १/३/१५, क.उ.,पृ०- २१४

रहित, विष्णु के परम पद, नित्यस्वरूप में अज्ञान-निर्मित ये शब्द प्रवृत्तिक्षम नहीं हैं ।[1] कोई भी शब्द सम्बन्ध, जाति, गुण और क्रियादि को निमित्त मान कर ही मुख्यवृत्ति से प्रवृत्त होता है । जैसे- समस्त तद्धितान्तादि शब्द सम्बन्धाधीन, गवादिशब्द गोत्वादि जाति के निमित्त से, शुक्लादि शब्द गुण के निमित्त से, पाचकादिशब्द क्रिया के निमित्त से प्रवृत्त होते हैं अर्थात् सम्बन्ध, जाति आदि के योग से ही मुख्यवृत्ति के द्वारा शब्द किसी अर्थ को कह सकते हैं । किन्तु शुद्ध ब्रह्म में इन सब निमित्तों का अभाव है, अत: कोई शब्द मुख्यवृत्ति से उसे कैसे कह सकेगा ? ब्रह्म केवल शब्द का ही अविषय नहीं; अपितु किसी भी प्रमाण का विषय नहीं । क्योंकि जो मन का भी विषय नहीं, वह किसी बाह्य प्रमाण का विषय कैसे हो सकता है ? फिर उसमें किसी शब्द का शक्ति-ग्रह हो ही नहीं सकता ।[2] अत: सम्बन्ध (षष्टी), गुण, क्रिया तथा जाति इन लौकिक तत्त्वों का ब्रह्म में न पाया जाना ही मुख्यवृत्ति का प्रत्यगात्मा में प्रतिषेध का कारण है । ये चारों विशेषताएँ लौकिक वस्तुओं में ही पाई जाती हैं, जबकि ब्रह्म पारलौकिक तत्त्व है । इसे 'नेति-नेति' जैसे प्रतिषिद्ध विशेषणों से बताया जाता है तथा यह वाणी, मन, इन्द्रियादि से परे है- ऐसा (अवाङ्मनसगोचर) कहा गया है । उपनिषद् ब्रह्मविद्या का आदिस्त्रोत है, जिसका मुख्य उद्देश्य ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करना है । उपनिषद् मे ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहा गया है ।[3]

ब्रह्म का ज्ञान न वाणी, न श्रोत्र, न चक्षुष्, न मनस्, न ही प्राणादि के द्वारा सम्भव है । ये

---

[1] "षष्टीजातिगुणक्रियादिरहिते सर्वस्य विज्ञातरि प्रत्यक्षे परिवर्जिताखिलजगद्वैतप्रपञ्चे दृशो । संत्यक्तव्यवधानके परमके विष्णो: पदे शाश्वते त्वय्यज्ञानविनिर्मिता न हि गिरो मुख्यप्रवृत्तिक्षमा:" ॥ २३९॥ स.शा., पृ० १४७

[2] आस्तामत्र वच: प्रवृत्तिविरह: प्रत्यक्त्वहेतोर्दृशि व्यापाराय मनोऽपि न प्रभवति भ्रारम्यत्परागभूमिशु । एवं चेदखिलप्रमाणपदवी: षोढा विभिन्ना भवान् उल्लङ्घ्य व्यवतिष्ठते त्वयि गिर: स्यान्मुख्यवृत्ति: कथम्" ॥ २४० ॥ स.शा., पृ.- १४८

[3] "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह....."-२/४/१, तै.उ.

स्वयं ब्रह्म के सामर्थ्य से अपना-अपना कार्य करने में सक्षम होते हैं ।[1] अत: ब्रह्म तक इनकी पहुँच नहीं है।[2] ब्रह्म इन सभी से परे एक अखण्ड, अद्वितीय तत्त्व है । अत: अवाङ्मनसगोचर कहा गया है, यह अनिर्वचनीय (जो वाणी से न जाना जा सके) है । अत: इस प्रकार के प्रत्यगात्मा (ब्रह्म) में सम्बन्धादि इन चारों तत्त्वों का होना सम्भव ही नहीं है, जिससे कि मुख्यवृत्ति घटित होती है। अत: गौणी तथा लक्षणा वृत्तियाँ ही प्रत्यगात्मा में स्वीकृत कही गई हैं ।

गौणी वृत्ति की प्रत्यगात्मा में प्रवृत्ति के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म में कोई भी गुण नहीं, फिर भी प्रौढिवाद का सहारा लेकर गौणी वृत्ति का समर्थन किया गया है । जैसे- लोक में "अग्निर्माणवक:"– आदि प्रयोगों में गौणी वृत्ति मानी जाती है, 'अग्नि' पद स्ववाच्य-वृत्ति तेजस्वित्वादि गुणों के सम्बन्ध में माणवक में प्रवृत्त होता है; वैसे ही "अहं ब्रह्मास्मि"– आदि वैदिक प्रयोगों में भी 'अहम्' पद तथा 'ब्रह्म' पद स्ववाच्य-वृत्ति चेतनत्वादि गुण के सम्बन्ध से शुद्ध चैतन्य के बोधक होते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि 'अहं' के सर्वाधिक अन्तरतम होने से (प्रत्यग्रूप होने से), अत्यधिक सूक्ष्म होने से तथा बुद्धि का अनुसरण करता हुआ सा प्रतीत होने से (आत्मदृष्टयनुशीलन) अर्थात् अहमादि शब्दों में इस प्रकार के गुणों का योग होने से , अहमादि शब्दों की प्रत्यगात्मा में गौणी वृत्ति स्वीकार की गई है । यहाँ 'अहं' से प्रत्यगात्मा (ब्रह्म) को बताया गया है । 'अहं' का अर्थ गौणी से लेने पर यह ज्ञात होता है कि "मैं" तत्त्व अन्त:करणादि सभी तत्त्वों से भी अन्तरतम है, वह इन्द्रियादि से भी सूक्ष्म अर्थात् अतिसूक्ष्म है तथा बुद्धि, अन्त:करणादि का अनुसरण करता हुआ सा प्रतीत होता है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'अहं' बुद्धयादि का वास्तविक रूप से अनुसरण नहीं करता बल्कि बुद्धयादि तत्त्व आत्मा का अनुसरण करते हैं, परन्तु प्रतीति इस प्रकार की होती है कि आत्मा बुद्धि का अनुसरण कर रहा है, ठीक

---

[1] "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"॥, "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते -१/४-५ , वहीं

[2] "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छत नो मनो न विद्मो न विजानीम"-१/३, केन.उ.

उसी प्रकार जैसे कि बस में बैठे यात्री को लगता है कि पेड़-पौधे दौड़ रहे हैं, जबकि वास्तविकता में बस दौड़ रही होती है। गौणी वृत्ति से 'अहम्' का उपर्युक्त अर्थ लेकर 'ब्रह्म' में भी इसी प्रकार के गुण साम्य को प्रस्तुत किया गया है। ओपाधिक रूप से भिन्नता होने पर भी तत्त्वत: दोनों (अहं तथा ब्रह्म) में एकरूपता होने से अर्थात् दोनों के ही चैतन्यरूप होने से गौणी वृत्ति से गुण साम्य दिखलाकर प्रत्यगात्मा अर्थ की प्रस्तुति की गई है। प्रत्यक् रूप होने से, अतिसूक्ष्म होने से तथा बुद्धि का अनुसरण करता हुआ सा प्रतीत होने से अर्थात् इस प्रकार के गुणों से युक्त होने से अहमादि शब्दों की गौणी वृत्ति प्रत्यगात्मा अर्थ में स्वीकार की गई है अर्थात् अहंकार से अतिरिक्त और जितने भी अनात्म पदार्थ हैं, उन सभी से अहंकार ही आन्तर (आत्मा का अत्यधिक समीपवर्ती) है और आत्मा के समान अति सूक्ष्म भी है एवं उसमें आत्मदृष्टि का अनुशीलन अनादिकाल से होता आया है। इन सब कारणों से अहंकार और आत्मा का साम्य होने से जिस प्रकार तिलों के तैल से समानता होने के कारण सरसों आदि से निकले हुये तैल का भी गौणीवृत्ति द्वारा तैल शब्द से ग्रहण होता है, इसी प्रकार अन्य वृत्तियों को छोड़कर गौणीवृत्ति द्वारा अहं शब्द से आत्मा का ग्रहण होता है।[1] परन्तु इससे भी अखण्डार्थ की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि गुण साम्य बतलाने पर भी द्वैतभाव तो बना ही रहता है।

अब ग्रन्थकार प्रत्यगात्मा में लक्षणा वृत्ति की प्रवृत्ति दिखलाते हुए कहते हैं कि प्रत्यगात्मा में जहल्लक्षणा और अजहल्लक्षणा स्वीकृत नहीं है, मात्र जहदजहल्लक्षणा ही अखण्डार्थ प्रदान करने में समर्थ है। जहल्लक्षणा का प्रत्यगात्मा में निषेध इसलिये किया गया है कि जहल्लक्षणा में शब्द के सम्पूर्ण मुख्यार्थ का परित्याग करके तत्सम्बन्धी दूसरे अर्थ का ग्रहण किया जाता है। जैसे- 'गंगायां घोष:' इस वाक्य में गंगा प्रवाह इस अर्थ को छोड़कर जहल्लक्षणा से 'तट' अर्थ लिया जाता है। अजहल्लक्षणा में वाक्य संगति के लिए मुख्यार्थ का परित्याग किए बिना सम्पूर्ण

[1] "प्रत्यक्त्वादतिसूक्ष्मत्वादात्मदृष्ट्यनुशीलनात्, अतो वृत्तीर्विहायाऽन्या ह्यहंवृत्त्योपलक्ष्यते"-२/५५, नै.सि., पृ.-६४

मुख्यार्थ के साथ ही अन्य तत्सम्बन्धी अर्थ का भी ग्रहण कर लिया जाता है। जैसे-'शोणो तिष्ठति' वाक्य में 'लाल बैठता है' – यह संगत अर्थ प्रतीति नहीं करवा रहा क्योंकि गुण (लाल रंग) गुणी (व्यक्ति) के बिना बैठ ही नहीं सकता। अत: यहाँ लाल के साथ सन्दर्भगत घोड़ा अर्थ का ग्रहण किया जाता है। अर्थात् 'लाल घोड़ा बैठता है'- यह संगत वाक्यार्थ अजहल्लक्षणा से ही प्राप्त होता है। महावाक्य के सन्दर्भ में 'तत्त्वमसि' वाक्य में जहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं क्योंकि 'तत्त्वमसि' में 'गंगायां घोष:' की भाँति आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है। यहाँ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (तत्) और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (त्वम्) की एकतारूप (एकत्व) जो वाक्यार्थ है, उसके सम्पूर्ण अंश में विरोध नहीं है , बल्कि उसके तो अंशमात्र (परोक्षत्व व अपरोक्षत्व) में ही विरोध होने के कारण सम्पूर्ण मुख्यार्थ त्याग वाली जहल्लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं हो पाती। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'शोणो तिष्ठति' वाक्य के समान अजहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं क्योंकि 'तत्त्वमसि' में परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (तत्) और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य (त्वम्) की एकतारूप (एकत्व) जो वाक्यार्थ है, उसके विरूद्धांश का परित्याग न करके उससे सम्बन्ध रखने वाले किसी अर्थ को लक्षित कराया भी जाये तो भी उस विरोध का परिहार सम्भव न होने के कारण अजहल्लक्षणा संगत नहीं हो सकती।

महावाक्य के अखण्डार्थ बोध में वेदान्ताचार्यों ने जहदजहल्लक्षणा को स्वीकृति प्रदान की है। जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्त:' यह वाक्य तथा इसका मुख्यार्थ 'भूतकालविशिष्ट देवदत्त ही वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त है' इसके एक अंश (भूतकालविशिष्ट व वर्तमानकालविशिष्ट) में विरोध होने से भूतकालविशिष्ट व वर्तमानकालविशिष्टरूप विरूद्धांश को छोड़कर अविरुद्धांश देवदत्त मात्र को लक्षित कराता है क्योंकि जहदजहल्लक्षणा द्वारा मुख्यार्थ के विरूद्धांश का त्याग और अविरुद्धांश का ग्रहण किया जाता है। अत: इसी प्रक्रिया से 'तत्त्वमसि' वाक्य के मुख्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य की एकता रूप (एकत्व) जो

वाक्यार्थ के एक अंश में विरोध होने से परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व रूप विरुद्धांश को छोड़कर अविरुद्ध अखण्डचैतन्यमात्र अर्थ को लक्षित कराया जाता है । अत: प्रत्यगात्मा रूप अखण्डार्थ की बोधक जहदजहल्लक्षणा ही है, न कि गायत्रीवैश्वानरादि शब्दों में प्रवृत्त अजहल्लक्षणा । छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मविद्या का वर्णन करते हुये कहा गया कि 'गायत्री ही ये सब भूत प्राणी वर्ग है'।[1] गायत्री का वाच्यार्थ है - २४ वर्णों तथा तीन पाद से युक्त वैदिक छन्द । वह गायत्री तो केवल छन्द मात्र है, उसका सर्वभूतरूप होना तो सम्भव नहीं है । इस वाच्यार्थ का तो वाक्यार्थ में समन्वय ही नहीं हो रहा । अत: अजहल्लक्षणा की प्रवृत्ति से 'गायत्री' पद का अर्थ 'त्रिपाद अमृत ब्रह्म' किया गया है । यहाँ 'गायत्री' शब्द स्वार्थ का परित्याग न करके ही 'त्रिपाद अमृत ब्रह्म' अर्थ में प्रवृत्त हुआ है और इससे ही अभीष्ट वाक्यार्थ भी प्राप्त हो रहा है । इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में ही ब्रह्मविद्या के वर्णन क्रम में अश्वपति और उद्दालक संवाद में उद्दालक को उपदेश दिया गया है कि 'वैश्वानर की उपासना करता है' ।[2] वैश्वानर शब्द का वाच्यार्थ होता है- 'जठराग्नि' । यहाँ पर भी अजहल्लक्षणा की प्रवृत्ति से 'वैश्वानर' का अर्थ 'वैश्वानर आत्मा' अर्थात् जठराग्नि से उपहित परमात्मा की उपासना विवक्षित है । अत: वैश्वानर शब्द स्वार्थ का परित्याग न करके ही परमात्मा में प्रवृत्त हुआ है । इसी प्रकार 'यजमान: प्रस्तर:'[3] तथा 'यजमान: एककपाल:'[4] में प्रयुक्त जहल्लक्षणा से भी प्रत्यगात्मा रूप अखण्ड अर्थ ज्ञात नहीं होता है । 'यजमान: प्रस्तर:' - इस वाक्य में 'पत्थर' वाच्यार्थ का पूर्णत: त्याग करके जहल्लक्षणा से 'यूप' अर्थ का ग्रहण किया गया है तथा 'यजमान: एककपाल:'– इस वाक्य में 'एककपाल' अर्थात् 'मिट्टी का पात्र' इस सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग करके जहल्लक्षणा से 'पुरोढ़ास' (पात्र में

---

[1] "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च"- ३/१२/१,छा.उ.,पृ.-२४२

[2] "वैश्वानरमुपासते"- ५/१७/२, छा.उ.,पृ.- ५०१

[3] 'यजमान: प्रस्तर:'-२/६/६,तै. सं.

[4] 'यजमान: एककपाल:'-१/६/३/४०, तै.ब्रा. ।

बनने वाला चावल) अर्थ ग्रहण किया जाता है ।

मूल ग्रन्थ (४) -

"साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाहं

शब्दोऽहंकारी भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे ।

नौरेषा रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा-

वित्यत्रेवात्मवस्तुन्यपि न खलु तदा कश्चिदप्यस्ति दोष:" ॥

इदमेव वृत्तित्रयमङ्गीकृत्य "समर्थ: पदविधि:" इत्यत्र सूत्रे जहत्स्वार्थाजहत्स्वार्था जहदजहत्स्वार्थेति भाषापदप्रक्षेपेण त्रैविद्यवृद्धा: लक्षणाविभागं चक्रु: । न चैवं मन्तव्यम्- लक्षणयाप्यात्मनो बोध्यत्वे कर्मत्वप्रसङ्ग इति, अ[अविद्या]ध्यारोपितातद्धर्मविनिवर्तकत्वात् शास्त्रस्य । शास्त्रं हि प्रत्यगात्मनि अविद्याध्यारोपितमतद्धर्मं निवर्तयत्येव केवलम्, न तु तं कर्मी करोति; अत: "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिविरोधोऽपि नास्त्येव । औपनिषदत्वविशेषणमपि प्रत्यगात्मन्: शास्त्रस्य तद्विषयाविद्यानिवर्तकत्वेन कर्मत्वाभावेऽप्युपपद्यत एव । तस्मान्मुख्यवृत्तिपरिहारेण लक्षणया वा गुणवृत्त्या वा यथाभागं प्रत्यगात्मनि प्रत्यगात्मनि प्रतिपाद्यमाने न कश्चिद्विरोध इति लक्षणा गुणवृत्तिशरणेन मुमुक्षुणा कृतान्वयव्यतिरिकेण भाव्यम् - इति ॥

अन्वय- यदि साभासाज्ञानवाची पुनर्ब्रह्मशब्द: भवति तथा अहं शब्दोऽहंकारी भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे । एषा नौ: रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे, तवासावित्यत्रेवा आत्मवस्तुन्यपि न खलु तदा कश्चिदप्यस्ति दोष:" ॥

अनुवाद (४) -

यहाँ पूर्वपक्षी कहते हैं कि यदि 'ब्रह्म' शब्द साभास अज्ञान का वाचक हो तथा अहं शब्द अहंकार का, उस पक्ष में तो जहती लक्षणा होती है । "यह नाँव रो रही है", "लोह-पिण्ड जलाता

है" तथा "विषधर रज्जु सामने है", इत्यादि स्थलों के समान ही आत्मवस्तु में भी जहती लक्षणा हो तो कोई दोष नहीं है। इस प्रकार भाषा प्रयोग के कर्म में तीनों विधाओं के ज्ञाता (गद्य, पद्य तथा गद्यपद्य) महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तीनों वृत्तियों (मुख्या, गौणी और लक्षणा) को स्वीकार करके "समर्थ: पदविधि" इस सूत्र के भाष्य में जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था तथा जहदजहत्स्वार्था इस प्रकार सर्वप्रथम लक्षणा का विभाग किया है और इस प्रकार नहीं मानना चाहिये कि लक्षणा से आत्मा को जानने पर कर्मत्वप्रसङ्ग होगा, (क्योंकि) शास्त्र के अविद्यारोपित अतद्धर्मों का निवारण करने मात्र में गति है। शास्त्र केवल प्रत्यगात्मा में अविद्याध्यारोपित अतद्धर्मों का निवारण करता है, न कि उसे (आत्मा को) कर्म बनाता है। अत: "जहाँ से वाणी लौट आती है" इत्यादि विरोध भी नहीं होता। प्रत्यगात्मा सम्बन्धी शास्त्र का औपनिषदत्व विशेषण भी, कर्मत्व का अभाव होने पर भी तद्विषयक (आत्मा के) अविद्या निवारण को ही उपस्थित करता है। अत: मुख्यवृत्ति का परिहार (बाध) हो जाने से, लक्षणा या गुणवृत्ति के द्वारा आत्मा के जितने भाग को भी जाना जा सके, उतने भाग को जानने में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार लक्षणा और गौणीवृत्ति की शरण से मुमुक्षु के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से (अज्ञान-निवृत्ति) होती है।

विश्लेषण (४)-

पूर्वपक्षियों के मत को प्रस्तुत करते हुए सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि वैसे तो सर्वव्यवहारातीत ब्रह्म में किसी शब्द की वाच्यता बन नहीं सकती, अत: 'ब्रह्म' पद का वाच्य आभास-विशिष्ट अज्ञान तथा 'अहम्' पद का वाच्य अहंकार होता है- इस पक्ष में जहल्लक्षणा होती है, क्योंकि ब्रह्म पद अपने वाच्य (साभास अज्ञान) को सर्वथा छोड़कर उसके अधिष्ठान शुद्ध चेतन का बोधक तथा 'अहम्' शब्द भी अहंकार को छोड़कर उसके अधिष्ठान शुद्ध चेतन का बोधक वैसे ही माना जाता है, जैसे कि 'नौ: रौति'- में 'नौ:' शब्द अपने वाच्य नौका रूप अर्थ को छोड़कर

नौकास्थ पुरूषों का बोधक होता है । 'लोहं दहति' – यहाँ 'लोह' शब्द अपने लोह अर्थ को छोडकर अग्नि में प्रवृत्त हुआ है एवं 'विषधरो रज्जु:'- यहाँ 'विषधर' पद अपने वाच्य (विष को धारण करने वाला) अर्थ को छोड़कर रस्सी अर्थ में प्रवृत्त हुआ है । श्लोक में 'पक्ष' पद का प्रयोग कर ग्रन्थकार ने यह सूचित किया है कि यह पूर्वपक्ष का मत है ।

इन तीनों प्रकार की वृत्तियों को स्वीकार करके सर्वप्रथम महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य के द्वितीय अध्याय में "समर्थ: पदविधि:" सूत्र के भाष्य में लक्षणा के तीनों विभागों- जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था तथा जहदजहत्स्वार्था का वर्णन किया है । वहाँ समास के दो पक्षों – वृत्तिपक्ष तथा वाक्यपक्ष के वर्णन क्रम में वृत्ति पक्ष की व्याख्या के अन्तर्गत लक्षणा के विभागों का भी वर्णन किया गया है । यहाँ पर वृत्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि 'पर के अर्थ का कथन करना वृत्ति है'।[1] उन ऎसा (परार्थाभिधानं वृत्ति:) कहने वालो की वृत्ति जहत्स्वार्था (अपने पदों के अर्थों को छोडने वाली) होती है अथवा अजहत्स्वार्था (अपने पदों के अर्थों को न छोडने वाली) होती है? इससे क्या? यदि जहत्स्वार्था वृत्ति होती है तो 'राजपुरुषमानय' ऎसा कहने पर पुरुष मात्र का आनयन प्राप्त होता है क्योंकि राजन् ने अपना अर्थ छोड़ दिया है । इसी प्रकार औपगवमानय ऎसा कहने पर अपत्यमात्र का आनयन प्राप्त होता है । यदि अजहत्स्वार्था वृत्ति होती है तो दोनों का स्व अर्थ विद्यमान होने पर 'दो में द्विवचन' होता है । इस नियम से विद्यमान द्विवचन प्राप्त होगा । अत: कौनसी वृत्ति न्याय्य है? क्या यह युक्त है कि जहत्स्वार्था वृत्ति हो? हाँ, युक्त है । इसप्र कार लोक में देखा जाता है कि 'पुरुष दूसरे कर्म में प्रवृत्त हुआ अपने कर्म को छोड़ देता है । जैसे- बढ़ई राजकार्य में प्रवृत्त हुआ अपने बढ़ईगिरि के काम को छोड़ देता है । इस प्रकार युक्त है कि राजन् शब्द पुरुष के अर्थ में प्रवृत्त हुआ अपने अर्थ को छोड़ दे और उपगु भी अपत्य अर्थ में वर्तमान हुआ अपने अर्थ को छोड़ दे । अभी तो कहा है- 'राजपुरुषमानय'

[1] "परार्थाभिधानं वृत्ति:" -२.१.१, म.भा., पृ.- २३

ऐसा कहने पर पुरूष मात्र का आनयन प्राप्त होता है और औपगवमानय ऐसा कहने पर अपत्यमात्र का। यह दोष नहीं है। जहत्स्वार्था होते हुए भी सर्वथा अपने अर्थ को नहीं छोड़ती है, जो पदार्थ का विरोधी स्वार्थ है उसको छोड़ती है। जैसे- बढ़ई राजकार्य में प्रवृत्त हुआ अपने बढ़ईगिरी के कर्म को छोड़ता है किन्तु हिचकी, श्वास लेना, हंसना आदि नहीं छोड़ता है क्योंकि (राजन् का पुरुष का) विशेषण होना रूप अर्थ परार्थ का विरोधी नहीं है, इसलिए उसको नहीं छोडेंगे अर्थात् राजन् पुरुष का विशेषण बन जाएगा, अर्थ होगा- राजविशिष्ट पुरुष अथवा अन्वय (साथ रहने) से राजन् शब्द विशेषण हो जाएगा। जैसे- घृतघट, तैलघट। घट में से घृत या तैल निकाल लेने पर भी, जो घृत या तैल का उसके साथ अन्वय (यत्किञ्चित सम्बन्ध) है, उससे वह विशेषण बन जाता है। यह घृत का घट है, यह तैल का घट है। अत: राजपुरुष आदि में राजन् आदि के स्वार्थ का त्याग कर देने पर भी पुरुष के साथ उसका जो सम्बन्ध होता है, उससे वह पुरुष का विशेषण बन जाता है[1] अथवा अजहत्स्वार्था वृत्ति हो । क्या यह युक्त है कि अजहत्स्वार्था वृत्ति हो? हाँ, युक्त है। इस प्रकार लोक में देखा जाता है कि- यह भिक्षुक दूसरी भिक्षा को प्राप्त करके पूर्व भिक्षा को नहीं छोड़ता अपितु संचय के लिए ही प्रवृत्त होता है। अभी तो कहा है- दोनों के स्वार्थ विद्यमान होने पर 'दो अर्थों में द्विवचन' होता है। इस नियम से राजपुरुष में द्विवचन प्राप्त होता है। (राज्ञ की षष्टी तथा पुरुष की प्रथमा में से किस विभक्ति

---

[1] अथ तेषामेवं ब्रुवतां किं जहत्स्वार्था वृत्तिर्भवति, आहोस्विदजहत्स्वार्था? किं चात: ? यदि जहत्स्वार्था वृत्ति: स्यात्, 'राजपुरूषमानय' इत्युक्ते पुरूषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति, 'औपगवमानय' इत्युक्तेऽपत्यमात्रस्य । अथाऽजहत्स्वार्था वृत्ति:, उभयोर्विद्यमानस्वार्थयोर्द्वयोर्द्विवचनमिति द्विवचनं प्राप्नोति । का पुनर्वृत्तिर्न्याय्या? जहत्स्वार्था । युक्तं पुनर्यज्जहत्स्वार्था नाम वृत्ति: स्यात् ? बाढं युक्तम् । एवं हि दृश्यते लोके – पुरूषोऽयं परकर्मणि प्रवर्तमान: स्वं कर्म जहाति । तद्यथा- तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमान:, स्वं तक्षकर्मं जहाति । एवं युक्तं यद्राजा पुरूषार्थे वर्तमान: स्वमर्थं जह्यात्, उपगुश्चापत्यार्थे वर्तमान: स्वमर्थं जह्यात् । ननु चोक्तं 'राजपुरूषमानयेत्युक्ते पुरुषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति, औपगवमानयेत्युक्तेऽपत्यमात्रस्य इति ? नैष: दोष: । जहदप्यसौ स्वार्थं नात्यन्ताय जहाति, य: परार्थविरोधी स्वार्थस्तं जहाति । तद्यथा- तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमान: स्व तक्षकर्मं जहाति, न तु हिक्कितश्वसितहसितकण्डूयितानि । न चायमर्थ: परार्थविरोधी विशेषणं नाम, तस्मात्तन्न हास्यति'- २/१/१, म.भा. पृ.- २३

का द्विवचन प्राप्त होता है ? प्रथमा का । राजन् प्रथमा समर्थ नहीं है, वह षष्टी समर्थ है तथा पुरुष षष्टी समर्थ नहीं है, प्रथमा समर्थ है । अच्छा तो प्रथमा का ही द्विवचन प्राप्त होता है । अभी तो कहा है- राजन् प्रथमा समर्थ नहीं है, वह (षष्टी का) अर्थ कहा जा चुका (समास के) अन्तर्भूत हुआ प्रातिपदिकार्थ मात्र बन गया है। उस अवस्था में 'प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा होती है' इस नियम से प्रथमा का ही द्विवचन प्राप्त होता है ।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य शंकरादि से पूर्व दूसरी शताब्दी ई०पूर्व में ही सर्वप्रथम लक्षणा के भेदों की चर्चा महाभाष्य में वर्णित है।

लक्षणावृत्ति के द्वारा आत्मतत्त्व को जाना जाता है, इसका तात्पर्य यह समझना सर्वथा अनुचित होगा कि आत्मा यहाँ कर्म बन जाता है । आत्मा यहाँ कर्म बन ही नहीं सकता क्योंकि आत्मा के कर्म बनते ही अन्य कर्ता, करण आदि कारक भी अवश्य ही उपस्थित होगें, ऐसे में आत्मबोध अखण्ड नहीं हो पाएगा और अद्वैतवेदान्त का परम प्रयोजन जीवात्मैक्य स्थापित ही नहीं होगा। इसी तथ्य को स्पष्ट रूप से सर्वज्ञात्मन् संक्षेपशारीरक में भी वर्णित करते हैं कि शब्द लक्षणा के द्वारा भी आत्मा को कर्म बनाकर नहीं कहता, क्योंकि बाह्य विषय के समान इस आत्मा में कर्मता नहीं मानी जाती । यदि इस आत्मा में कर्मता होगी, तब आत्मगत प्रत्यग्रूपता का विरोध होगा। इसका कारण यही है कि जो-जो कर्म होता है, वह प्रत्यग्स्वरूप नहीं होता ।[2] लोक में यह नियम है कि 'अर्थं बुध्वा वाक्य रचना भवति' अर्थात् कोई भी पुरुष स्वतन्त्र रूप से किसी भी शब्द का उच्चारण करने से पहले उसके अर्थ को जान लेता है। जान लेने का अर्थ होता

---

[1] अथवा पुनरस्त्वजहत्स्वार्था वृत्ति: । युक्तं पुनरिदं यदजहत्स्वार्था नाम वृत्ति: । युक्तं पुनरिदं यदजहत्स्वार्था नाम वृत्ति: स्यात् ? बाढं, युक्तम् । एवं हि दृश्यते लोके – भिक्षुकोऽयं द्वितीयां भिक्षां समासाद्या पूर्वां न जहाति, संचयायैव प्रवर्तते - २/१/१. वहीं, पृ.-२४

[2] आत्मानं न तु कर्मतामुपनयञ्छब्दों वदेल्लक्षणामार्गेणापि यत: पराग्विषय:वन्नास्येष्यते कर्मता । प्रत्यक्ता हि विरूद्धयते यदि भवेदस्याऽऽत्मन: कर्मता यद्यत्कर्म न तस्य तस्य भवति प्रत्यक्त्वभावो यत: ॥२४१॥ स.शा., पृ.- १४९

है- ज्ञान का कर्म बना लेना। 'घटं जानाति'- यहाँ घट अपने ज्ञान का कर्म माना जाता है। ज्ञान दो प्रकार का होता है- वृत्तिरूप तथा वृत्ति में प्रतिफलित (अभिव्यक्त) चैतन्यरूप। वृत्ति को गौण ज्ञान और चैतन्य को मुख्य ज्ञान कहा करते हैं। घटादि बाह्य विषयों पर दोनों की कर्मता रहती है। वृत्तिकर्मता को वृत्तिव्याप्यता या वृत्ति-विषयता कहा जाता है और वृत्यभिव्यक्त चैतन्य की कर्मता को फल-व्याप्यता, क्योंकि वृत्यभिव्यक्त चैतन्य ही फल कहलाता है। शब्द-प्रयोग में अर्थ-निष्ठ-व्याप्यता से ही काम चल जाता है, फल-व्याप्यता रूप कर्मता की अपेक्षा नहीं। अत: ब्रह्म में प्रमाणाधीन फल की विषयता न होने से प्रमाणागम्यता और वृत्ति-विषयता होने से शब्द-प्रयोग बन जाता है। यदि शब्द प्रयोग में फल-व्याप्यता अपेक्षित होती, तो उसे ब्रह्म में भी मानना पड़ता। ब्रह्म में फल-व्याप्यता बन नहीं सकती क्योंकि वह प्रत्यग्रूप है, सर्वसाक्षी है, स्वयं प्रकाश है, उसे प्रकाशान्तर से प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं। पर-प्रकाशित जड़-वर्ग का प्रकाश करने के लिए ही फल-व्याप्यता अनिवार्य होती है जबकि ब्रह्म तो स्वत: प्रकाशित है। उसमें किसी भी प्रकार की कर्मता की सम्भावना भी नहीं बनती। अत: लक्षणा की प्रवृत्ति को प्रत्यगात्मा में स्वीकार किया गया है, परन्तु वह भी आत्मा को कर्म नहीं बना सकती। लक्षणावृत्ति के द्वारा आत्मतत्त्व का बोध होने का स्पष्ट तात्पर्य है कि 'आत्मा विषयक अज्ञान की निवृत्ति होना'। भाषा या शास्त्र साक्षात् रूप से आत्मा का साक्षात्कार नहीं करवा सकता, उसमें इतना सामर्थ्य ही नहीं है, वह तो ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान का नाश मात्र करता है, अर्थात् यहाँ ब्रह्म या आत्मा तो कर्म नहीं बनती परन्तु 'अज्ञान निवृत्ति' अवश्य की कर्म बनता है। यहाँ यह व्याख्येय है – अद्वैत वेदान्तियों का यह मानना है कि सीमित वस्तु असीमित वस्तु का बोध नहीं करवा सकती। इसलिये सीमित शब्द (भाषा) भी असीम ब्रह्म का बोध नहीं करवा सकता। इसलिये वह ब्रह्म को कर्म भी नहीं करवा सकती। अत: वह 'अज्ञान-निवृत्ति' को कर्म बनाती है। इसीलिए सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि शास्त्र (भाषा) आत्मा में अविद्या द्वारा

अध्यारोपित अतद्धर्मों (जो धर्म आत्मा के नहीं है) का निराकरण मात्र करता है, न कि ब्रह्म को कर्म बनाता है। अविद्या को माया भी कहा जाता है। यह ब्रह्म की बीज शक्ति है तथा यह ब्रह्म से अभिन्न भी है। जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहकता शक्ति को पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म से माया अभिन्न है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। शंकराचार्य ने माया के विषय में कहा है कि माया ब्रह्म की अव्यक्त शक्ति है, जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका ज्ञान उसके कार्यों से होता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है।[1] इसी माया के कारण जीव और ब्रह्म में भेद की प्रतीति करवायी जाती है। जीव व ब्रह्म वस्तुत: अभिन्न हैं।[2] जिस प्रकार अग्नि से निकली अग्नि की चिनगारियाँ अग्नि से अभिन्न है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म से अभिन्न है। रामानुज के मतानुसार जीव ब्रह्म का अंश है। परन्तु शंकराचार्य को यह मत मान्य नहीं है क्योंकि ब्रह्म निरवयव है। वल्लभाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का विकार है परन्तु शंकराचार्य को यह मत मान्य नहीं है क्योंकि ब्रह्म अविकारी या अपरिणामी है। जीव न आत्मा से भिन्न है, न आत्मा का अंश है, न आत्मा का विकार है, बल्कि स्वत: आत्मा है। यदि जीव को ब्रह्म से भिन्न माना जाये, तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता है, क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्य की सम्भावना भी नहीं सोची जा सकती है। दोनों में भेद उपाधि (अविद्या) के द्वारा निर्मित है, दोनों का भेद व्यावहारिक है, परन्तु परमार्थत: दोनों में भेद नहीं है। औपनिषदिक महावाक्य "तत्त्वमसि" आत्मा तथा जीव की अभिन्नता को प्रमाणित करता है। माया की आवरण-विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म अज्ञान के धर्मों से युक्त प्रतीत होता है अर्थात् अविद्या अपने धर्मों का आत्मा या ब्रह्म पर अध्यारोप करती है। आत्मा तो अपरिछिन्न, नित्य, प्रकाशस्वरूप, चैतन्यस्वरूप, अखण्ड और

---

[1] "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते" ॥४१॥ वि.चू. , पृ.- २३

[2] "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:"

पूर्ण है परन्तु अज्ञान की आवरण व विक्षेप शक्तियों द्वारा आत्मा में अज्ञान के धर्मों (परिच्छिन्नत्व,अनित्यत्व, खण्डत्व आदि) का आरोप किया जाता है । यहाँ ध्यातव्य है कि अज्ञान वस्तुत: आत्मा का आवरण नहीं कर सकता, वह केवल प्रमाता की दृष्टि को ढ़क सकता है, परन्तु लगता यह है, मानो उसने आत्मा को ढ़क लिया हो । अत: अज्ञान को आत्मा का आच्छादक उपचार से कहा जाता है । हस्तामलक में इसी बात को बहुत ही व्यावहारिक उदाहरण से प्रस्तुत किया गया है कि जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ पुरुष, बादल से अपनी दृष्टि के ढ़क जाने पर, सूर्य को बादल से ढ़का हुआ और प्रभारहित मानता है, उसी प्रकार मूढ़ पुरुष की दृष्टि से जो आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ (संसारी) जैसा प्रतीत होता है, वह नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ ।[1] जिस प्रकार रज्जुविषयक अज्ञान, अपने द्वारा ढ़की हुई रज्जु में, अपनी शक्ति से सर्प इत्यादि की उद्भावना कर देता है, उसी प्रकार अज्ञान अपने द्वारा ढ़की हुई आत्मा में अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा आकाशादि कार्यसमूह की उद्भावना कर देता है और शास्त्र इसी अविद्या द्वारा अध्यारोपित अज्ञान के धर्मों अनित्यत्वादि की ही निवृत्ति करता है, जो कि आत्मा के धर्म नहीं होते हैं । अत: शास्त्र आत्मा को कर्म नहीं बनाता बल्कि कर्म तो अज्ञान-निवृत्ति ही बनता है । अज्ञान निवृत्ति होने पर जिस प्रकार पट के कारणभूत तन्तुओं के जल जाने पर पट भी जल जाता है, उसी प्रकार अज्ञान का नाश होने पर तद्धर्म, तज्जन्य जगत् आदि सभी का नाश हो जाता है । एकमात्र अखण्ड चैतन्य ही अवशेष रहता है । अर्थात् शुद्ध ब्रह्म तो सदैव ही स्वत: प्रकाशित होता रहता है, परन्तु अज्ञानावरण से वह ढ़क दिया जाता है और जैसे हि अज्ञान रूपी आवरण नष्ट होता है, ब्रह्म पुन: प्रकाशित हो जाता है । भाषा या शास्त्र का प्रयोजन ब्रह्म-साक्षात्कार करवाना नहीं है बल्कि ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति मात्र करना है, शास्त्र की

[1] "घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं, यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ: । तथा बद्धवद् भाति यो मूढदृष्टे:, स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा" - १०, हस्त.

सीमा भी यहीं तक है । आत्म-साक्षात्कार में भाषा या शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं होती। अज्ञान-निवृत्ति करने तक ही शास्त्र की उपयोगिता है । अज्ञान-निवृत्ति होते ही आत्म-साक्षात्कार स्वत: ही हो जाता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शास्त्र ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात् रूप से कारण नहीं बनता बल्कि तत्सम्बन्धी अज्ञान-निवृत्ति करके असाक्षात् रूप से कारण बनता है । इसी कारण "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि विरोध भी उपस्थित नहीं होता । इसका तात्पर्य यह है कि श्रुति ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहती है, अर्थात् वाणी या शास्त्र में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह ब्रह्म का ज्ञान करवा सके, ब्रह्म तक वाणी की पहुँच नहीं है, अत: वाणी वहाँ से लौट आती है । दूसरी तरफ यह कहा जाता है कि "अहं ब्रह्मास्मि" (भाषा/वाणी) इस महावाक्य से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है । अत: यह विरोध उपस्थित होता है कि दोनों विरोधी बातें एकसाथ नहीं हो सकती क्योंकि "अहं ब्रह्मास्मि" यह महावाक्य भी भाषा रूप ही है । यदि वाणी (भाषा) ब्रह्म को नहीं बता सकती तो "अहं ब्रह्मास्मि" यह महावाक्य ब्रह्म-बोध कैसे करवा सकता है? अनिर्वचनीय ब्रह्म का साक्षात्कार वाणी से सम्भव ही नहीं है । "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है- इसका तात्पर्य यह है कि "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य से ब्रह्म-विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है, न कि प्रत्यक्षरूप से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । वाणी अनिर्वचनीय ब्रह्म का साक्षात्कार प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं करवा सकती परन्तु ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान-निवृत्ति करके अप्रत्यक्षरूप से इसका कारण अवश्य ही बनती है अर्थात् वाणी ब्रह्म तक तो नहीं जा सकती परन्तु तत्सम्बन्धी अज्ञान तक जाकर उसका नाश करने में सक्षम है और तत्सम्बन्धी अज्ञान नाश करके वह लौट आती है । अज्ञान नाश करने तक ही शास्त्र (भाषा) की उपयोगिता कही गयी है । जब तक अज्ञान नाश नहीं होगा, तब तक ब्रह्मसाक्षात्कार भी नहीं होगा । अत: दोनों बातों में विरोध नहीं है । प्रत्यगात्मा सम्बन्धी शास्त्र (उपनिषद्) का जो औपनिषदत्व विशेषण कहा जाता है, उसका तात्पर्य भी यही है कि वह ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान की

निवृत्ति करके ही ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक होता है, उपनिषद् भी ब्रह्म को कर्म नहीं बनाता। ब्रह्मबोध के लिए मुमुक्षु योग्य गुरु का अन्वेषण करता है। इस सन्दर्भ में कहते हैं कि- "औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" अर्थात् जिसकी उपनिषद् के मर्म को समझ कर, ब्रह्म विषयक अज्ञान-निवृत्ति हो चुकी है, उसे 'औपनिषद पुरुष' कहा गया है। यहाँ भी यह नहीं समझना चाहिये कि उपनिषद् से जिसने ब्रह्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर लिया है, वह 'औपनिषद पुरुष' है। उपनिषद् भी तो भाषा रूप ही है तथा भाषा ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं करवा सकती, यह पहले की कहा जा चुका है। अत: 'उपनिषद् से ब्रह्म को जानता हूँ' – इसका तात्पर्य भी यही है कि 'ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति को प्राप्त करता हूँ, न कि ब्रह्म को प्राप्त करता हूँ'। यहाँ भी अज्ञान -निवृत्ति को ही कर्म (कर्ता का ईप्सिततम) समझना चाहिये। ब्रह्म में तो कर्मत्व का अभाव ही लक्षित होता है। इसलिए मुख्यावृत्ति को छोड़कर लक्षणा और गौणीवृत्ति के द्वारा (महावाक्यों का अर्थनिर्धारण करके) आत्मा के यथासम्भव स्वरूप को जानना चाहिये। इसमें कोई विरोध नहीं है अर्थात् गौणीवृत्ति से आत्मा के प्रत्यक्त्व, अतिसूक्ष्मत्व आदि गुणों को ही जान पाते है, आत्मा के सम्पूर्ण वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते परन्तु यह मुमुक्षु को आत्मा के स्वरूप के कुछ निकट तो पहुँचा ही देती है तथा लक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) तो 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों का अखण्ड अर्थ प्रस्तुत कर आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करती ही है। यह स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार मुमुक्षु को लक्षणा और गौणीवृत्ति द्वारा अन्वय-व्यतिरेक विधि से आत्म-बोध होना चाहिए। यहाँ 'अन्वय-व्यतिरेक' कहने का तात्पर्य है कि "जहाँ-जहाँ उपनिषद् वाक्य, वहाँ-वहाँ अज्ञान-निवृत्ति" (अन्वय) तथा "जहाँ-जहाँ उपनिषद् वाक्याभाव, वहाँ-वहाँ अज्ञान-निवृत्ति का भी अभाव" (व्यतिरेक) होता है।

मूल ग्रन्थ (५)-

"बाह्याभ्यन्तरवस्तूनि यन्महिम्ना चकासति ।
तस्यै कूटस्थनित्यायै महत्यै संविदे नमः" ॥

अन्वय- बाह्य आभ्यन्तरवस्तूनि यन्महिम्ना चकासति । तस्यै कूटस्थनित्यायै महत्यै संविदे नमः ।

अनुवाद (५)-

बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तुएँ, जिसकी महिमा से प्रकाशित होती हैं, उस कूटस्थ नित्य, महान्, ज्ञानस्वरूप को नमन है ।

मूल ग्रन्थ (६)-

श्रीमद्देवेश्ववराङ्घ्रिस्फुटकमलरजःपातसंपर्कपूतः,
सर्वज्ञात्मासमस्तश्रुतिपथकुशलःशब्दवृत्तिप्रभेदनम् ।
व्याचख्यावेतमेवं यतिजनमनसि ज्ञानवैमल्यसिद्धयै,
शब्दज्ञानं निदानं भवति हि जगतः श्रेयसः प्रेयसश्च ॥
इतिशब्दवृत्तिविवेकः

अन्वय- समस्तश्रुतिपथकुशलः श्रीमद्देवेश्ववराङ्घ्रिस्फुटकमलरजःपातसंपर्कपूतःसर्वज्ञात्मा यतिजनमनसि ज्ञानवैमल्यसिद्धयै, व्याचख्यावेतमेवं शब्दवृत्तिप्रभेदनम् ।शब्दज्ञानं हि जगतः श्रेयसः प्रेयसश्च निदानं भवति ॥

अनुवाद (६)-

सम्पूर्ण श्रुति मार्ग को जानने में कुशल श्रीमद्सुरेश्वर गुरु के खिले हुये चरणकमलों की रज के सम्पर्क से पवित्र हुये सर्वज्ञात्मा नामक मुनिवर ने सन्यासियों के मन में ज्ञान की निर्मलता की सिद्धि के लिये शब्दवृत्ति भेदों की व्याख्या करते हैं । शब्दज्ञान ही जगत् के श्रेयस् और प्रेयस् की उपलब्धि का कारण होता है ।

विश्लेषण (६)-

अन्त में सर्वज्ञात्मन् सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को नमन करते हुये कहते हैं कि सभी बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओं के प्रकाशक, महान्, ज्ञानस्वरूप, कूटस्थ नित्य[1] को प्रणाम करते हैं । तदुपरान्त अपने गुरु सुरेश्वराचार्य को नमन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण वेद मार्ग को जानने में कुशल श्रीमद्सुरेश्वर गुरु चरणकमलों की रज के सम्पर्क से पवित्र हुये सर्वज्ञात्मा नामक मुनिवर ने संन्यासियों के मन में ज्ञान की निर्मलता की सिद्धि के लिये शब्दवृत्ति भेदों की व्याख्या करते हैं। 'ज्ञान की निर्मलता की सिद्धि के लिये' यह इसलिये कहा गया है क्योंकि शब्दवृत्तियों के द्वारा यथासम्भव ब्रह्म के स्वरूप को जान कर ही संन्यासीगण ब्रह्म के भ्रामक अज्ञानाच्छादित स्वरूप से शुद्ध ब्रह्म का भेद स्थापित कर पाएगें, जिससे अज्ञान-निवृत्ति होते ही उनका चित्त निर्मल होगा और उनकी दृष्टि पर पड़ा अज्ञान रूपी आवरण का नाश होते ही स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म प्रकाशित होता है ।

अन्तत: भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि 'प्रेयस् और श्रेयस्' की प्राप्ति भी शब्दज्ञान से ही होती है । कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद के प्रसंग में 'प्रेयस् और श्रेयस्' को स्पष्ट करते हुये कहा है कि श्रेयस् नि:श्रेयस् है तथा अन्यों से एकदम भिन्न है तथा प्रेयस् प्रियतर वस्तुओं की प्राप्ति है ।[2] नि:श्रेयस् से तात्पर्य मोक्ष से है तथा प्रेयस् की श्रेणी में धर्म, अर्थ तथा काम (अभ्युदय) को कहा जाता है । व्यक्ति आजीवन इन चारों धर्म,अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति हेतु ही प्रयत्नरत रहता है, इसीलिये इन्हें पुरुषार्थ भी कहा जाता है । प्रेयस् की प्राप्ति कर जहाँ व्यक्ति लौकिक उन्नति (अभ्युदय) को प्राप्त करता है, वहीं श्रेयस् से उसे पारलौकिक

---

[1] इदं तु पारमार्थिकं , कूटस्थनित्यं,व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्,निरवयवम्, स्वयंज्योति: स्वभावम्,यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तते । तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् -१/१/४, ब्र.सू., पृ.- ५८ ।

[2] (अ) " श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर: । श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते" ॥ २/२॥ क.उ. , पृ.- २०७

(ब) "अन्यत्पृथगेव श्रेयो नि:श्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेय: प्रियतरमपि"- २/१, क.उ.भा.पृ.-२०६

कूटस्थ नित्य[1] मोक्ष की प्राप्ति होती है और विवेकी मनुष्य ही इनके भेद को समझ पाता है कि प्रेयस् अनित्य फल वाला है जबकि श्रेयस् नित्य फल प्रदायक है। प्रेयस् को अविद्यारूप तथा श्रेयस् को विद्यारूप कहा गया है। इनमें से श्रेयस् को ग्रहण करने वाले का शुभ होता है जबकि प्रेयस् की प्राप्ति नश्वर होने से सदैव दु:खद कही गई है। इसी कारण अन्तत: नचिकेता ने तृतीय वर के रूप में मोक्ष प्रदायक श्रेयस् का ही वरण किया।[2] जबकि यमराज ने नचिकेता के समक्ष पुत्र- वित्तादि प्रिय और अप्सरादि प्रियरूप भोगों तथा स्वर्गसुख प्राप्ति का प्रस्ताव रखा परन्तु नचिकेता ने तृतीय वर के रूप में मोक्ष (श्रेयस्) का वरण किया। ध्यातव्य है कि स्वर्ग सुख लौकिक सुखों की पराकाष्ठा है तथा नचिकेता ने इसे भी मोक्ष के समक्ष तुच्छ ही समझा। अब प्रश्न यही है कि इन श्रेयस् और प्रेयस् की प्राप्ति कैसे होती है ? इसी का उत्तर सर्वज्ञात्मन् देते है कि दोनों की प्राप्ति में शब्दज्ञान ही कारण है क्योंकि जिस व्यक्ति को शब्द का अच्छा ज्ञान होता है, उसके विषय में यह माना जाता है कि वह सत्ता को यथार्थ रूप में जानता है क्योंकि भाषा, ज्ञान पर निर्भर करती है तथा ज्ञान सत्ता (वस्तु) पर निर्भर करता है। अत: जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानता है, वही अपने ज्ञान को भाषा के द्वारा अन्यों तक पहुँचा पाता है और उसे लोक में यश, व्यवसाय, धन-धान्य तथा रिश्तेदारों की प्राप्ति होती है। भाषा द्वारा ही व्यक्ति का आन्तरिक ज्ञान बाह्य हो पाता है, अत: भाषा सम्प्रेषण का साधन तो है ही, साथ ही व्यक्ति की चिन्तन प्रक्रिया भी भाषा के द्वारा ही सम्पन्न हो पाती है। सभी शास्त्र तथा उपदेश भाषा में ही होते है, जिन्हें पढ़कर व्यक्ति लोक में ख्याति प्राप्त करता है। शब्दज्ञान यदि न हो तो व्यक्ति किसी से एक वस्तु भी नहीं माँग सकता, अत: विनिमय पर आश्रित व्यक्ति का दैनिक व्यवहार भी शब्दज्ञान द्वारा ही सम्भव होता है, जिसके विना जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं। इसी लिये तो काव्यादर्शकार दण्डी कहते हैं कि शब्द के अभाव में तीनों लोक अन्धकार

---

[1] इदं तु पारमार्थिकं , कूटस्थनित्यं,व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्,निरवयवम्, स्वयंज्योति: स्वभावम्,यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् -१/१/४, ब्र.सू., पृ.- ५८

[2] "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त" ॥२/४॥ क.उ., पृ.- २०९

निमग्न हो जाएगें ।[1] शब्द के बिना लोकयात्रा सम्भव ही नहीं हो सकती ।[2] साथ ही यह भी कहा गया कि श्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति भी शब्दज्ञान द्वारा ही सम्भव है । मोक्ष की प्राप्ति में प्रमाणक शास्त्र (मोक्ष शास्त्र उपनिषदादि) भी भाषा में ही निबद्ध है तथा इनका ज्ञान भी गुरु के उपदेश द्वारा ही सम्भव है । अत: गुरु का ज्ञान उपदेश के रूप में शिष्य तक किसी न किसी भाषा के माध्यम से ही पहुँच पाता है और वेदान्त के प्राण-स्वरूप महावाक्य भी शब्दज्ञान के द्वारा ही मुमुक्षु को अपना अखण्डार्थ प्रस्तुत करने में सक्षम होते हैं । इस अखण्डार्थ से ही ब्रह्मबोध (ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान-निवृत्ति) होती है तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप चैतन्य (मोक्ष) का साक्षात्कार होता है । अत: यह सिद्ध ही है कि शब्दज्ञान ही श्रेयस् और प्रेयस् की प्राप्ति में निदानस्वरूप है ।

\|/ \|/ \|/
/|\ /|\ /|\

[1] "इदमन्धतमं कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् । यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते"- १/१, काव्या. , पृ.- १
[2] इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा । वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ १.३॥ वहीं , पृ.-५

|| तृतीय अध्याय ||

[महावाक्यार्थविवरणम्]

अहं ब्रह्मास्मि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

मंगलाचरण-

भाति विश्वं यदज्ञानाद् यद्ज्ञानाच्च निवर्तते ।
तस्मै बोधस्वरूपाय नमः शुद्धाय शार्ङ्गिणे ॥

अन्वयः - यद् अज्ञानाद् विश्वं भाति, यद् ज्ञानात्त् च निवर्तते । तस्मै बोधस्वरूपाय शुद्धाय शार्ङ्गिणे नमः ।

अनुवाद-

जिसके अज्ञान से यह विश्व प्रकाशित होता है और जिसके ज्ञान से निवर्तित होता है, उस ज्ञानस्वरूप शुद्ध विष्णु रूप को नमस्कार है ।

मूल ग्रन्थ (१)-

अथातो वेदान्तमहावाक्यार्थं व्याख्यास्यामः । "अहं ब्रह्म" इति महावाक्यार्थज्ञानादेव मुमुक्षूणां मोक्षो भवति । महावाक्यार्थज्ञानं च भवति "अहं ब्रह्म" इति पदद्वयार्थ-परिज्ञानात् । पदद्वयार्थौं च द्विविधौ, वाच्यौ लक्ष्यौ च । तत्र वाच्यौ शबलौ, लक्ष्यौ शुद्धौ । प्राणपिण्डात्मककार्यशबलं प्रत्यकचैतन्यमपि दैवपर्यन्तमं(मधिदैवपर्यन्तं) अहंशब्द-वाच्यम्। प्राणपिण्डकारणाविद्याशबलं अद्वयानन्दचैतन्यं ब्रह्मशब्दवाच्यम् । एतदुक्तं भवति – सद्वितीयं प्रत्यग्रूपमहंशब्दवाच्यं पारोक्ष्यसहितमद्वयादानन्दचैतन्यं ब्रह्मशब्द-वाच्यमिति तयोरहंब्रह्मशब्दवाच्ययोः कार्यकारणशबलयोः पदार्थयोः सामानाधिकरण्य-विशेषणविशेष्यभावेन विरोधस्फुरणे सति उभयत्र उपाधिपरित्यागः क्रियते ; शुद्धौ पदार्थौं च लक्ष्येते । तत्र अहंपदेन प्राणपिडात्मककार्यसद्वितीयभागपरित्यागेन प्रत्यक्चैतन्यभागो लक्ष्यते।

ब्रह्मपदेन च प्राणपिण्डात्मककारणाविद्यापारोक्ष्यभागपरित्यागेन अद्वयानन्द-चैतन्यभागो लक्ष्यते।

अनुवाद (१)-

सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि शब्दवृत्तियों का विवेचन करने के उपरान्त जीवब्रह्मैक्य के निमित्त वेदान्त के महावाक्यों के अर्थ की व्याख्या करता हूँ। "अहं ब्रह्म" इस महावाक्य के अर्थ के ज्ञान से ही मुमुक्षूओं को मोक्ष की प्राप्ति होती है। और महावाक्य के अर्थ का ज्ञान 'अहं ब्रह्म' इन दो पदों के अर्थों के ज्ञान से होता है। इन दो पदों के अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं– वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। वाच्यार्थ विशेषणयुक्त (मिश्रित) तथा लक्ष्यार्थ शुद्ध होता है। अहं शब्द का वाच्यार्थ है- चींटी से लेकर देवतापर्यन्त कार्यरूप प्राणपिण्डात्मक (शरीर से विशिष्ट) प्रत्यक्चैतन्य तथा ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ है - कारणरूप प्राणपिण्डात्मक अविद्याविशिष्ट अद्वयानन्द चैतन्य। यह कहा गया है कि - अहं शब्द का वाच्य 'भेदपरक प्रत्यग्रूप' तथा ब्रह्म शब्द का वाच्य 'पारोक्ष्यविशिष्ट अद्वयानन्द चैतन्य' इन दोनों अहं तथा ब्रह्म शब्दों के वाच्यों कार्यकारणविशिष्ट पदार्थों में सामानाधिकरण्य तथा विशेषणविशेष्य भाव सम्बन्ध होने से, विरोध के उत्पन्न होने पर दोनों ही पदों में उपाधि का परित्याग किया जाता है और पदों के शुद्ध अर्थ लक्षित होते हैं। 'अहम्' पद से- प्राणपिण्डात्मक-कार्यसद्वितीय भाग का परित्याग करने पर, प्रत्यग्चैतन्य भाग लक्षित होता है। 'ब्रह्म' पद से प्राणपिण्डात्मक-कारणाविद्यापारोक्ष्य भाग का परित्याग करने पर अद्वयानन्दचैतन्यभाग लक्षित होता है।

विश्लेषण (१)-

शब्दवृत्तियों की विस्तार से व्याख्या करने के उपरान्त अब सर्वज्ञात्मन् मोक्ष प्राप्ति में साधक वेदान्त के महावाक्यों की व्याख्या करते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य के अर्थों का ज्ञान होने से ही मुमुक्षुओं को मोक्ष की प्राप्ति होती है क्योंकि "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य के

अर्थों का ज्ञान होने से अधिकारी शिष्य के चित्त में 'मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्द स्वरूपवाला अद्वितीय ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की अखण्ड आकार वाली चित्तवृति का उदय होता है। यह अखण्डाकाराकारित चित्तवृति ही ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान का नाश करती है। अज्ञान नाश होने पर जिस प्रकार पट के कारणभूत तन्तुओं के जल जाने पर पट भी जल जाता है, उसी प्रकार अज्ञान का नाश होने पर तज्जन्य जगत्, उसके अन्तर्गत रहने वाली अखण्डब्रह्माकारा चित्तवृति भी नष्ट हो जाती है और एकमात्र अखण्ड चैतन्य ही अवशेष रहता है। यही अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष की अवस्था बतायी गयी है। यह ध्यातव्य है कि पदार्थ ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। अत: सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि महावाक्यार्थ बोध भी 'अहं तथा ब्रह्म' इन दो पदों के अर्थों के ज्ञान से उत्पन्न होता है। इन दोनों पदों के अर्थ दो प्रकार के होते हैं- वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। वाच्यार्थ विशेषणयुक्त या उपाधि युक्त होता है, परन्तु लक्ष्यार्थ तत्त्वत: शुद्ध अर्थ होता है। अहं शब्द का वाच्यार्थ है– 'सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु से लेकर देवता पर्यन्त प्राणपिण्डात्मक कार्य विशिष्ट प्रत्यक् चैतन्य'। यहाँ प्राणपिण्ड से तात्पर्य है- व्यष्टिरूप स्थूलसूक्ष्मशरीर, जो कि कार्यरूप होता है। अत: वाच्यार्थ में 'प्राणपिण्डात्मक कार्य विशिष्ट' यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है। इसे ही वेदान्तसार में 'स्थूल शरीरों की व्यष्टि (एक स्थूलशरीर) से उपहित चैतन्य' भी कहा गया है।[1] ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ है – 'कारणरूप प्राणपिण्डात्मक अविद्या विशिष्ट अद्वयानन्द चैतन्य'। यहाँ प्राणपिण्ड से तात्पर्य है- समष्टिरूप स्थूलसूक्ष्मशरीर, जो कि कारणरूप होता है। अत: वाच्यार्थ में 'प्राणपिण्डात्मक कारण विशिष्ट' यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है। इसे ही वेदान्तसार में 'स्थूलशरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य' भी कहा गया है तथा विश्व के सभी प्राणियों का अधिष्ठाता होने से 'वैश्वानर' और नाना रूपों में विराजमान होने के कारण 'विराट्'

[1] "एतद् व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते, सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्" – वे.सा., पृ.- ८५

भी कहा जाता है ।[1] अत: यह कहा जाता है कि – भेदपरक प्रत्यग्रूपचैतन्य अहं शब्द का वाच्य तथा पारोक्ष्यविशिष्ट अद्वयानन्दचैतन्य ब्रह्म शब्द का वाच्य है । उन दोनों अहं तथा ब्रह्म शब्दों के वाच्यार्थ कार्यकारणविशिष्ट पदार्थों का सामानाधिकरण्य तथा विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है। अहं तथा ब्रह्म दोनों में समान विभक्ति, प्रथमा विभक्ति एकवचन होने से यह स्पष्ट ही ज्ञात हो रहा है ।[2] परन्तु दोनों के वाच्यार्थों को देखने से यहाँ विरोध उपस्थित हो रहा है । अत: यहाँ दोनों के वाच्यार्थों में उपाधि त्याग किया जाता है, जिससे कि शुद्ध पदों का अर्थ लक्षित होता है अर्थात् एकवाक्यस्थ पदों की युगपत् विशिष्टार्थ-बोधन में प्रवृत्ति ही अन्वय कहलाती है । वह अन्वय एकार्थविषयक होने से सामानाधिकरण्य और अनेकार्थविषयक होने से वैयधिकरण्य कहलाता है । "नीलमुत्पलम्" के समान ही प्रथमान्त अहं तथा ब्रह्म का पहले एकार्थ बोधकत्व रूप सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है । पश्चात् नीलगुण और उत्पलत्व के समान अहं ब्रह्म पदार्थों का विशेषणविशेष्यभाव, अनन्तर नीलगुण और उत्पलत्व के जाति के संसर्ग के समान अहं ब्रह्म अर्थों के संसर्ग में विरोध बुद्धि होती है । अत: नीलपद की द्रव्यार्थ में लक्षणा वृत्ति के समान प्रकृत में एक पद की लक्षणावृत्ति मानने पर भी जब विरोध दूर होता नहीं दिखाई देता, तब उभयपद-लक्षणा के द्वारा अखण्डैकरस वस्तु उपस्थित की जाती है ।[3] अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उक्त सम्बन्ध पदों के हैं या अर्थों के ? इस जिज्ञासा का उपशमन भी सर्वज्ञात्मन् ही करते है । दोनों पदों में सामानाधिकरण्य, दोनों पदों के वाच्यार्थ में विशेषणविशेष्यभाव तथा प्रत्यगात्मा और दोनों पदों के वाच्यार्थ में लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होता है । शुद्ध आत्मा लक्ष्य और वाच्यार्थ

---

[1] "एतद् समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडिति चोच्यते,सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च" - वहीं, पृ. - ८४

[2] "समानविभक्त्यन्तयो: पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यम्" – वे.सा., पृ.- १२३

[3] "सामानाधिकरण्यमत्र भवति प्राथम्यभागन्वय:, पश्चादेष विशेषणेतरतया पश्चाद्विरोधोद्भव: । उत्पन्ने च विरोध एकरसके वस्तुन्यखण्डात्मके वृत्तिर्लक्षणया भवत्ययमिह ज्ञेय: क्रम: सूरिभि:" ॥ १९६॥ सं.शा., पृ. -१२७

उसका लक्षण माना जाता है ।[1] ऐसा ही नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वराचार्य का भी मत है।[2] वेदान्तसार में सामानाधिकरण्यादि तीनों सम्बन्धों को स्पष्टरूप से सविस्तार वर्णित किया गया है । सामानाधिकरण्य सम्बन्ध उसे कहते हैं, जैसे 'सोऽयं देवदत्त:' इस वाक्य में 'स:' शब्द भूतकालविशिष्ट देवदत्त: का वाचक है और 'अयम्' शब्द वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त का वाचक है । इन दोनों शब्दों का एक ही देवदत्तरूप व्यक्ति में तात्पर्य होना सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है । उसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में 'अहं' पद भेदपरक प्रत्यग्रूपचैतन्य का वाचक तथा'ब्रह्म' पद पारोक्ष्यविशिष्ट अद्वयानन्दचैतन्य का वाचक है । इन दोनों पदों का एक ही चैतन्य में तात्पर्य होना सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है ।[3] विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध उसे कहते हैं, जैसे 'सोऽयं देवदत्त:' इस वाक्य में 'स:' शब्द के वाच्यार्थ भूतकालविशिष्ट देवदत्त: और 'अयम्' शब्द के वाच्यार्थ वर्तमानकालविशिष्ट देवदत्त का में पारस्परिक भेद (तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व) के व्यावर्तक होने के कारण विशेषणविशेष्यभाव है, उसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में भी 'अहं' पद के वाच्यार्थ भेदपरक प्रत्यग्रूपचैतन्य तथा 'ब्रह्म' पद के वाच्यार्थ पारोक्ष्यविशिष्ट अद्वयानन्दचैतन्य में पारस्परिक भेद के (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व) के व्यावर्तक होने के कारण विशेषण-विशेष्यभाव है । विशेषण का कार्य है- भेद की भ्रान्ति का निवारण करना । विशेषणविशेष्यभाव का ही यह प्रभाव है कि दोनों पद प्रवृत्तिनिमित्त के अलग-अलग होने पर भी एक ही वस्तु को निर्दिष्ट कर रहे हैं । परन्तु "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य में 'अहं' तथा 'ब्रह्म' पदों के वाच्यार्थ का परस्पर प्रत्यक्षादिप्रमाणों से विरूद्धार्थ विषयक होने के कारण एकनिष्ठता का अभाव होने से लक्षणा के बिना न तो विवक्षित

---

[1] "सामानाधिकरण्यमत्र पदयोर्ज्ञेयस्तदीयार्थयो:, सम्बन्धस्तु विशेषणेतरतया ताभ्यां सहास्यात्मन: । सम्बन्धोऽप्यथ लक्ष्यलक्षणतया विज्ञेय एवं बुधै:, एतान्यर्थपदानि बुद्धिपदवीमारोहणीयानि तु ॥१९७॥ सं.शा., पृ.- १२७

[2] "सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता । लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध: पदार्थप्रत्यगात्मनाम्" ॥ ५० ॥ नै.सि., पृ०- ९८

[3] "भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यसम्बन्ध: सामानाधिकरण्यमिति"- वे.सा., पृ. - १२३

सामानाधिकरण्य ही उपपन्न होगा और न दोनों पदार्थों में परस्पर विशेषणविशेष्यभाव ही उपपन्न हो सकेगा । लक्षणा के द्वारा पदनिष्ट और वाक्यनिष्ट विरूद्धांश का व्यावर्तन होने पर सामानाधिकरण्य और विशेषणविशेष्यभाव दोनों ही उपपन्न हो जाते हैं । अत: सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि प्रमाणान्तर से विरोध स्फुरित होते ही जहदजहल्लक्षणा द्वारा 'अहं' पद के वाच्यार्थ में से विरुद्धांश 'प्राणपिण्डात्मककार्यसद्वितीय' भाग का परित्याग करना चाहिए, जिससे कि अविरुद्धांश प्रत्यग्चैतन्य भाग की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार 'ब्रह्म' पद के वाच्यार्थ में से भी विरुद्धांश 'प्राणपिण्डात्मककारणाविद्यापारोक्ष्य' भाग का परित्याग करना चाहिए, जिससे कि अविरुद्धांश 'अद्वयानन्दचैतन्य' लक्षित होता है ।

मूल ग्रन्थ (२)-

एवं प्रत्यक्चैतन्यमहंपदेन, अद्वयानन्दचैतन्यब्रह्मपदेन, लक्षयित्वावतिष्ठमानस्य यज्ञादिक्षपितकल्मषस्य सर्वकर्मकाण्डफलभूतस्य सर्वकर्मसन्यासिन: साक्षात्कृतब्रह्माणं जीवनमुक्तं सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धसमस्तदु:खनिदानं सर्वलक्षणसम्पन्नं स्वाज्ञानकल्पितस्वप्नदृश्यकल्पितगुरुमिव कल्पितसब्रह्मचारिसहस्त्रपरिवेष्टितं गुरुमुपसन्नस्य तत्प्रसादलब्धश्रवणमननिदिध्या-सनाभ्यासनिरस्तासंभावनाविपरीतभावनातात्पर्यज्ञानसंशयविपर्ययस्य परमे-श्वरानुगृहीतस्य अधिकारिण: "ब्रह्मैवाहमस्मि" "अहमेव ब्रह्म" इति पदद्वयोलक्षितयोरहंब्रह्मपदार्थयो: "अहं ब्रह्मास्मि" इति महावाक्यादनुभवफलपर्यन्तमेकत्वज्ञानमुत्पद्यते, अधिकारिण: प्रमितिजनको वेद: इति न्यायात् ।

अनुवाद-

इस प्रकार अहं पद से प्रत्यग्चैतन्य तथा ब्रह्म पद से अद्वयानन्दचैतन्य अर्थ को लक्षणावृत्ति द्वारा प्राप्त करके यज्ञादि से नष्ट मल वाला, सभी कर्मकाण्डों के फलस्वरूप प्राप्त सर्वकर्मसंन्यासी, ब्रह्म का साक्षात्कार किया हुआ, जीवन्मुक्त, सम्यग्ज्ञान की अग्नि में जले हुये

समस्त दु:ख नाश वाला, अधिकारित्व के सभी लक्षणों से सम्पन्न, अपने अज्ञान से कल्पित स्वप्नदृश्य तथा कल्पित गुरु की तरह कल्पित सहस्त्र ब्रह्मचारी शिष्यों से घिरे हुये गुरु के सामीप्य वाला, उनके (गुरु के) प्रसाद से प्राप्त श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास से निवृत्त असंभावना, विपरीत भावना, तात्पर्यज्ञान, संशय तथा विपर्यय वाला, परमेश्वर से अनुगृहित अधिकारी का "ब्रह्म ही मैं हूँ" तथा "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार दोनों पदों से लक्षित अहं और ब्रह्म पदों के अर्थों से "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य से अनुभव फल पर्यन्त 'वेद अधिकारी व्यक्ति में ही ज्ञान को उत्पन्न करता है' इस न्याय से एकत्वज्ञान उत्पन्न होता है।

विश्लेषण (२)-

इस प्रकार लक्षणावृत्ति द्वारा मुमुक्षु अहं पद से 'प्रत्यग्चैतन्य' तथा ब्रह्म पद से 'अद्वयानन्दचैतन्य' का अर्थाधिगम करके वह यज्ञादि उन कर्मों का ही अनुसरण करता है, जो कि चित्त को निर्मलता प्रदान करते हैं तथा ब्रह्म का साक्षात्कार किया हुआ वह शरीरधारी जीवन्मुक्त कर्मसन्यासिता को प्राप्त किया हुआ, कर्म करते हुए भी कर्म न करता हुआ अर्थात् जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। उस ब्रह्मवेता पुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।[1] इस प्रकार कर्म करता हुआ ज्ञानरूपी अग्नि में सभी दु:खों को दग्ध कर दु:खनाश को प्राप्त किया हुआ, ब्रह्मज्ञान के लिए अनिवार्य अधिकारित्व के सभी लक्षणों से सम्पन्न, अपने अज्ञान से कल्पित स्वप्न, जीव, जगत्, परमेश्वर तथा गुरु की तरह ही सहस्त्र शिष्यों से घिरे हुए काल्पनिक गुरु के समीप बैठा हुआ, उनकी कृपा से प्राप्त

[1] "यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव:, आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते" ॥ "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय:" ॥ १७,१८ ॥ भ.गी., पृ.- ५५-५६ ।

श्रवण, जो कि षड्विधलिङ्गों से युक्त बताया गया है[1], मनन[2] और निदिध्यासन[3] के अभ्यास से असंभावना[4], विपरीतभावना[5], तात्पर्यज्ञान, संशय[6] तथा विपर्यय[7] को निरस्त किया हुआ, परमेश्वर की कृपा को प्राप्त किया हुआ अधिकारी अर्थात् अद्वैतवेदान्त में अधिकारी वह बताया गया है, जो कि ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने की योग्यता से पूर्ण हो, जिसने इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में वेदों और वेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदान्त के अर्थ को सामान्यरूप से समझ लिया हो तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से समस्त कल्मषों के दूर हो जाने के कारण जिसका अन्त:करण अत्यन्त निर्मल हो गया है और जो साधनचतुष्टय (नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहलौकिक व पारलौकिक फल विराग, शमादिषट्कसम्पति तथा मुमुक्षत्व) से सम्पन्न है, ऐसा प्रमाता पुरुष इस ब्रह्म विद्या का अधिकारी है ।[8] इसी को शंकराचार्य ने भी पद्यात्मक शैली में कहा है कि जिसका चित्त शान्त हो गया हो, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो, जिसका पाप पुञ्ज नष्ट हो गया हो, जो शास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान करने वाला हो, जो विवेक, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा और समाधान गुणों से युक्त हो, गुरु का अनुगामी हो, ऐसे मोक्षाभिलाषी पुरुष

---

[1] "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्, अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये"- वे.सा., पृ. - १५५

[2] मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम् - वहीं, पृ. - १५७ ।

[33] विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् - वहीं, पृ.- १५७

[4] असंभावना का अर्थ यह है कि "मैं ब्रह्म नहीं हूँ" या "ब्रह्म नहीं है" इसप्रकार की भावना से ग्रसित होना ।

[5] विपरीतभावना में व्यक्ति वास्तविकता से विपरीत सोचता है । जैसे- असत् ही यथार्थ है ।

[6] "यस्मिन्स्तु पुन: तद् तदभावश्च उभयमेव भासते स संशय: । यथा- 'दीर्घोऽयं मानुषों न वा' इति सशंय: - A primer of Navya Nyaya Language and Methodology, p. 132.

[7] विपर्यय से तात्पर्य है - किसी भी वस्तु का उल्टा ज्ञान होना । जैसे- सत् को असत्, नित्य को अनित्य, अखण्ड को सखण्ड, आदि को अनादि और चित् को अचित् समझना ।

[8] " अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्त: साधनचतुष्टयसम्पन्न: प्रमाता" ॥५॥ वे.सा., पृ.-११

को यह सम्पूर्ण आत्मज्ञान गुरु के द्वारा सर्वदा दिए जाने योग्य है ।[1] ऐसा अधिकारी ही लक्षणा के द्वारा प्राप्त अहं तथा ब्रह्म पदों के अर्थों को "ब्रह्म ही मैं हूँ" या "मैं ही ब्रह्म हूँ" ऐसा जानकर "अहंब्रह्मास्मि" इस महावाक्य से जब तक उसे इसका अनुभव नहीं हो जाता तब तक एकत्व (जीवब्रह्मैक्य) ज्ञान की उत्पत्ति होती रहती है और यह भी ध्यातव्य है कि वेद अधिकारी प्रमाता में ही ज्ञान की उत्पत्ति करता है, यह न्यायत: प्रसिद्ध है । इसलिये ही सर्वज्ञात्मन् ने अधिकारी के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है और यह बता दिया है कि अधिकारी शिष्य को ही जीवब्रह्मैक्य का अनुभव होता है अर्थात् जिसका अन्त:करण निर्मल हो गया है और जो विवेकवैराग्यादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न है, उसी अधिकारी शिष्य में अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है । अन्यथा गुरु का उपदेश अरण्यरोदन ही सिद्ध होता है । इस अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के उदय होने पर ही जीवब्रह्मैक्य का ज्ञान होता है।

मूल ग्रन्थ (३)-

तस्माज्ज्ञानोदयादज्ञानतत्कार्यनिवृतौ बाधितानुवृत्या जीवन्मुक्तरूपेण परब्रह्मताजीवन्मुक्त्यो: युगपतनुभवाविरोधेन किञ्चित्कालमवस्थितस्य शरीराम्भकयो: पुण्यपापयोरुपभोगादेव क्षपणात्, सञ्चितकर्मणां सम्यग्ज्ञानाग्निदग्धत्वात् , आगामिनोश्च पुण्यपापयो: अकरणात् , कथंचित्करणे तयोरपि ज्ञानादश्लेषाद्वर्तमानदेहपाते सति- हेत्वाभावे फलाभावात्- शरीरान्तरानुत्पत्ते: सर्वगतत्वसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वात्मत्व सत्यसंकल्पत्वादीनां अज्ञानकल्पितानां गुर्वाकाशादिप्रपञ्चवत् अज्ञानाभावे यद्यप्यभाव:, तथापि निर्गुणब्रह्मपरसमस्तवेदशाखोपनिषद्गतापुनरुक्तसमस्तपदोपसंहारेण विधिमुखेन प्रवृत्तमहावाक्यशेषावान्तरवाक्यपरिमाणपरिज्ञानाभ्युपगमात्, सामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्य

[1] "प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च,प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे । गुणान्वितायानुगताय सर्वदा, प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे" ॥८॥ उ.सा., पृ. - ५

–भावेन विरोधस्फुरणे लक्ष्यलक्षणभावेन हेयांशहानोपादानन्यायोपपत्ते:, पदार्थज्ञान-समुत्थवाक्यार्थज्ञानसमूलदाहदग्धजगत्परिशिष्टनित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयचित्प्रत्यग्ब्रह्म स्वरूपावस्थानलक्षणमात्यन्तिकं, कैवल्यं विदुषो भवत्येव। "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" इति "तस्य हनदेवाश्चनाभूत्या ईशते" इत्यादिश्रुते: । उत्क्रान्तिगत्यागतिकारणाभावात् तत्प्रतिषेधश्रुतेश्च सद्योमुक्तिरेव जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतीनां कल्पितजीवन्मुक्तगुरुविषयत्वात् शिष्यस्य विदुषो जीवन्मुक्त्यभ्युपगमे च ज्ञानदग्धाभासमात्ररूपं शिष्यं प्रत्युपदेष्टृत्वासंभवाद् विदुषो जीवन्मुक्ते: प्रयोजनाभावात् चिरश्रुत्तिश्चाज्ञाननिद्राभिहननापनयनमात्रविलम्बिकैवल्याभिप्रायत्वाद्युक्ततरेति केचित्॥

अनुवाद (३)-

उस ज्ञान (एकत्वज्ञान) के उदय होने से अज्ञान तथा उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाने पर जन्म-मृत्यु की आवृत्ति बाधित होने से, जीवन्मुक्तरूप से परब्रह्मता या जीवन्मुक्त के एकसाथ अनुभव में अविरोध होने से, कुछ समय तक स्थित रहने वाले जीवनमुक्त के शरीर के आरम्भक पाप और पुण्य के उपभोग से ही कर्मों (प्रारब्ध कर्मों) के नष्ट हो जाने से, सञ्चित कर्मों के सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि में जल जाने से तथा आगामी (क्रियमाण कर्म) पापपुण्यरूप कर्म के न करने से या कुछ कर्म के करने पर भी ब्रह्मज्ञान हो जाने के कारण कर्मों के श्लिष्ट न होने से, वर्तमान देह का अन्त होने पर– 'हेतु (कारण) के अभाव में फल (कार्य) का भी अभाव होता है' इस न्याय से पुन: दूसरे शरीर के उत्पन्न न होने से, सर्वगतत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वात्मत्व, सत्यसंकल्पत्वादि अज्ञान कल्पितों का, गुरु तथा आकाशादि प्रपञ्च की तरह अज्ञानाभाव होने पर यद्यपि अभाव होता है, फिर भी निर्गुणब्रह्म को बताने वाला समस्त वेदों की शाखा रूप उपनिषद् के अपुनरुक्त समस्त पदों का समाधान हो जाने से, विधिमुख से प्रवृत्त अवान्तर वाक्यों सहित महावाक्यों का ज्ञान हो जाने से, सामानाधिकरण्य तथा

विशेषणविशेष्यभाव के द्वारा विरोध के उत्पन्न होने पर लक्ष्यलक्षण भाव से हेय अंश का त्याग और उपादेय अंश का ग्रहण- इस न्याय के उपस्थित होने से, पदार्थ ज्ञान से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान होने से जगत् के समूल दग्ध होने पर एक मात्र शेष नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अद्वय, चित्, प्रत्यग्- इन लक्षणों वाले ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर विद्वानों का आत्यान्तिक कैवल्य होता ही है। इस विषय में श्रुति कहती है कि "आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है। उसके लिये मोक्ष होने में उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है" इस प्रकार "उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते", कारण का अभाव हो जाने पर जन्म-मृत्यु रूप कार्य की भी अगति (अभाव) हो जाती है। श्रुति भी उसका (जन्म-मृत्यु का) प्रतिषेध ही कहती है। श्रुति-स्मृत्तियों के अनुसार सद्यमुक्ति ही जीवन्मुक्ति है। कल्पित जीवन्मुक्त गुरु के होने पर तथा शिष्य के भी जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेने पर ज्ञान से दग्ध कर्म वाला, आभास मात्र रूप होता है। तब शिष्य के प्रति काल्पनिक उपदेश देना असम्भव होने से, जीवन्मुक्त विद्वान् के प्रयोजन रहित होने से, चिरश्रुति के अनुसार अज्ञानरूपी निद्रा के नष्ट हो जाने या हट जाने मात्र से, विलम्बित कैवल्य के अभिप्राय से यह उक्ति कही गई है - इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं।

विश्लेषण (३)-

जीवब्रह्मैक्य का ज्ञान होने से अज्ञान और उसके कार्यों की निवृत्ति होने से जन्म-मरण की आवृत्ति भी बाधित हो जाती है अर्थात् कारण के नष्ट होते ही कार्य भी नष्ट हो जाता है। इस समस्त संसार का कारण, अनेकता का कारण और जन्म-मृत्यु का का कारण अज्ञान ही है अत: अज्ञान के नष्ट होते ही इसके ये सभी कार्य भी नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मवेता पुरुष जीवन्मुक्त रूप से परब्रह्मता और जीवनमुक्ति दोनों का एकसाथ अनुभव करता है इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि दोनों परब्रह्मता और जीवन्मुक्ति एकसाथ सम्भव है। अद्वैत वेदान्त जीवन्मुक्ति तथा

विदेह-मुक्ति दोनों को स्वीकार करता है। जब जीते जी ही व्यक्ति अपने अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से, ब्रह्म विषयक अज्ञान का बाध होने के द्वारा, स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर, अज्ञान, उसके कार्य (सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपञ्च), सञ्चितकर्म, संशय और विपर्यय आदि का विनाश हो जाने से, समस्त बन्धनों से रहित हुआ ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीते जी ही जीवन्मुक्त होता है।[1] आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर अविद्या और उसका कार्यभूत समस्त संसार निवृत्त हो जाता है। काकतालीय न्याय से यदि उसी समय प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने से ब्रह्मवेता का शरीरपात हो जाये तो वह तत्काल विदेहमुक्त (परममुक्त) हो जाता है परन्तु यदि ज्ञानोत्पत्ति के समय उसका प्रारब्ध कर्म क्षीण नहीं हुआ है, तो उसके क्षयपर्यन्त शरीर के विद्यमान रहने से ब्रह्मवेता जीवित रहते हुए ही संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है, उसकी अहंकार रूपी हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सभी प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध के अतिरिक्त सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं।[2] ऐसी स्थिति में वह जीवन्मुक्ति और परब्रह्मता दोनों का अनुभव करता है। दोनों में तत्त्वत: कोई भेद नहीं है किन्तु उपाधि भेद ही है। अत: दोनों में अविरोध होने से दोनों का एकसाथ अनुभव करता हुआ कुछ समय तक ही जीवित रहता है, जब तक कि शरीर के आरम्भक पापपुण्ययुक्त प्रारब्ध कर्मों का भोग पूर्ण हो जाये।

इस स्थल पर त्रिविध कर्म का स्पष्टीकरण उपादेय है। शास्त्र में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं– सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। अनादिकाल से चली आ रही जन्म परम्परा में अब तक जितने कर्म किये गये हैं, उन संगृहित कर्मों को सञ्चित कर्म कहते हैं। मन, वाणी और शरीर से मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह जब तक क्रियारूप में रहता है, तब तक वह क्रियमाण है और पूरा होते ही तत्काल सञ्चित बन जाता है। मनुष्य की इस अपार सञ्चित कर्मराशि में से, पुण्य-

---

[1] " जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठ:"। वे.सा., पृ. - १८५

[2] " भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:, क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" - २/२/८ , मु.उ.

पाप के इस बडे ढ़ेर में से, जिन फलोन्मुख कर्मों को लेकर शरीर बनता है, उन कर्मों को प्रारब्ध कहा जाता है । प्रारब्ध का नाश भोग से ही होता है । जब तक सञ्चित अवशिष्ट रहता है, तब तक प्रारब्ध बनता रहता है । जब तक इस अनेक जन्मार्जित कर्मसमूह का सर्वथा नाश नहीं होता, तब तक जीव की मुक्ति नहीं हो सकती है । सञ्चित से स्फुरणा, स्फुरणा से क्रियमाण, क्रियमाण से पुन: सञ्चित और सञ्चित के अंश से प्रारब्ध- इस कर्मप्रवाह में जीव निरन्तर बहता ही रहता है । कर्म के विषय में यह सामान्य नियम है कि फलभोग के बिना कर्म का विनाश नहीं होता । किये हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पडता है।[1] महाभारत में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है ।[2] परन्तु भोगों के अतिरिक्त ज्ञान से भी कर्मों का विनाश शास्त्रों में कहा गया है । श्री कृष्ण गीता में कहते हैं कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है ।[3] तत्त्वज्ञानरूप अग्नि के प्रकट होते ही समस्त पूर्व सञ्चित संस्कारों का अभाव हो जाता है । शरीरेन्द्रियाणि से आत्मा को असंग और निर्लिप्त समझने के कारण शरीरेन्द्रियाणि से प्रारब्ध भोगों का सम्बन्ध होते हुये भी ब्रह्मवेता सुख और दु:ख से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है । इसी लिये उसकी दृष्टि में प्रारब्ध भोग भी नष्ट हो जाते हैं । श्रुति कहती है कि शरीरेन्द्रियाणि से आत्मा को असंग और निर्लिप्त समझने वाले जीवन्मुक्त का कोई प्रिय या अप्रिय नहीं होता ।[4] रहे क्रियमाण कर्म, सो कर्मों में कर्त्तृत्वाभिमान तथा ममता, आसक्ति और वासना न रहने के कारण उनके संस्कार नहीं बनते । इसी लिये वे कर्म वस्तुत: कर्म ही नहीं रह जाते । इस प्रकार उसके समस्त

---

[1] " नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि, अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" - २/२९/१८, ना. पु.

[2] "यत्तेन किञ्चिद्धि कृतं हि कर्म तदश्नुते नास्ति कृतस्य नाश:" - ३/१३/८६८ ,महा.भा.

[3] "यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"- ४/३७, भ.गी.

[4] "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत:" - ८/१२/१, छा.उ. ,पृ. – ८४९

कर्मों का नाश हो जाता है । प्रारब्ध के विषय में जो यह कहा जाता है कि ज्ञान होने पर भी उसका नाश नहीं होता, सो इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रारब्ध जन्य सुख और दु:ख ब्रह्मवेता की दृष्टि में नहीं रह जाते हैं तथापि स्वरूप से इनका विनाश नहीं होता । ब्रह्मवेता के शरीर, इन्द्रियादि प्रारब्ध के कार्य हैं, अत: प्रारब्धक्षयपर्यन्त इनका अस्तित्व रहता है और उसका फल भी ये ही भोगते हैं । विवेकचूड़ामणि में शंकराचार्य कहते हैं कि शरीरेन्द्रियादि की स्थिति प्रारब्धकर्म के अधीन है । जब तक प्रारब्ध कर्म शेष है, तब तक शरीरादि का विनाश असम्भव है। जैसे- किसी शक्तिशाली पुरुष के द्वारा फेंका गया बाण तब तक नहीं रुक सकता, जब तक कि उसका वेग क्षीण नहीं होता, उसी प्रकार जिस आरब्ध विपाक कर्म के फलस्वरूप यह शरीर मिला है, उस कर्म का वेग जब तक क्षीण नहीं होता, तब तक शरीरादि का निवारण नहीं हो सकता । उसके वेग को रोकने का सामर्थ्य ब्रह्मज्ञान में भी नहीं है ।[1] इसमें कुलालचक्र का दृष्टान्त भी दिया जाता है । कुम्हार अपने डण्डे से जब चाक में एक बार वेग उत्पन्न कर देता है तो बीच में उसको रोकना सम्भव न होने के कारण जब तक वेग का क्षय न हो, प्रतीक्षा करनी पड़ती है । उसी प्रकार प्रारब्ध कर्माशय में जब एक बार वेग उत्पन्न हो गया, तो जब तक वह कर्माशय क्षीण नहीं होता, शरीरपात होना असम्भव है । अत: ब्रह्मज्ञान होने पर भी पूर्णमुक्ति के लिए ब्रह्मवेता को शरीरपात की प्रतीक्षा करनी पड़ती है ।[2] इसीलिये श्रुति में कहा गया है कि- उस आचार्यवान् पुरुष को सदात्मस्वरूप की प्राप्ति में तभी तक विलम्ब है, जब तक देहपात नहीं होता, देहपात होने पर अविलम्ब सत्सम्पन्न हो जाता है । जीवन्मुक्त का शरीरादि के प्रति मिथ्याभिमान यद्यपि बाधित हो जाता है तथापि संस्कारवशात् कुछ काल तक अनुवर्त्तित होता रहता है । जैसे-

---

[1] " ज्ञानोदयात् पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति,अदत्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्" ॥, "व्याघ्रबुद्धया विनिर्मुक्तो बाण: पश्यात्तु गोमतौ । न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्" ॥४५२,४५३ ॥ , वि.चू. , पृ०- ८९

[2] " न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुत्पद्यते । आश्रिते च तस्मिम् कुलालचक्रवत् प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासम्भवाद् भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्" - ४/१/१४, ब्र.सू.शां.भा., पृ.- ५६७

'चन्द्रमा दो हैं, इस मिथ्याज्ञान के बाधित हो जाने पर भी संस्कारवशात् कुछ समय तक दो चन्द्रमा दिखाई देते रहते हैं । इसलिये जीवन्मुक्ति में अविद्यालेश का संस्पर्श स्वीकार किया जाता है ।

अत: सर्वज्ञात्मन् उक्त व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में ही कहते हैं कि कुछ काल तक ही रहने वाले प्रारब्ध का भोग कर लेने से, ज्ञानरूपी अग्नि में सञ्चित कर्मों के जल कर नष्ट हो जाने से, आगामी क्रियमाण कर्मों के न करने से तथा कुछ कर्म यदि कर भी लिये जाते हैं तो ज्ञानदशा में होने के कारण उनके अश्लिष्ट (असंगृहित) होने से, वर्तमान देह का जब देहपात (मृत्यु) होने पर, ब्रह्मवेता के पुन: दूसरे शरीर की उत्पत्ति (जन्म) नहीं होती क्योंकि हेतु के अभाव हो जाने पर फल का भी अभाव हो जाता है अर्थात् कर्मों (हेतु/कारण) के न रहने पर शरीर (फल/कार्य) का भी अभाव हो जाता है । साथ ही अज्ञान कल्पित समस्त प्रपञ्च जैसे- अज्ञानोपहित चैतन्य (ईश्वर) की समस्त उपाधियों- सर्वगतत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वात्मत्व, सत्यसंकल्पत्वादि का कल्पित गुरु तथा आकाशादि समस्त स्थूल प्रपञ्च (चराचर जगत्) की तरह अज्ञान रूपी कारण का अभाव होने पर यद्यपि अज्ञान के कार्यों का भी अभाव होता है, फिर भी निर्गुणब्रह्म को बताने वाले उपनिषद् के विरोधाभासी समस्त पदों का समाधान हो जाने से तथा समस्त संशय, विपर्ययादि के निवृत्त हो जाने के बाद विधिमुख से उपदिष्ट अवान्तर वाक्यों सहित महावाक्यों का अखण्डार्थ युक्त वास्तविक ज्ञान हो जाता है । इस दौरान महावाक्यों में सामानाधिकरण्य तथा विशेषण-विशेष्यभाव की उपस्थित होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध भी उत्पन्न होता है। तब भागत्याग लक्षणा की प्रवृति होती है । शुद्ध चैतन्य और महावाक्यों के पदार्थों में लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध होने से अर्थात् लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध उसे कहते हैं, जैसे 'सोऽयं देवदत्त' इस वाक्य में स: शब्द और अयं शब्द का अथवा इन दोनों के वाच्यार्थों का तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्वरूप विरूद्धांश का परित्याग करने के द्वारा अविरुद्ध देवदत्त के साथ

लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध है ।[1] अत: शुद्ध चैतन्य और महावाक्यों के पदार्थों में भी लक्ष्यलक्षण भाव सम्बन्ध कहा गया है। लक्ष्य शुद्ध चैतन्य की प्राप्ति के लिए 'हेय अंश का त्याग और उपादेय अंश का ग्रहण' करना चाहिए- यह न्याय उपस्थित होता है अर्थात् भागत्याग लक्षणा द्वारा विरूद्धांश उपाधि भाग का त्याग और अविरूद्धांश चैतन्य भाग का ग्रहण किया जाता है। चूँकि पदज्ञान ही वाक्यज्ञान को उत्पन्न करता है। इसलिये सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि भागत्याग लक्षणा द्वारा जब पदों के अर्थों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, तब पदार्थ ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, इस अखण्ड वाक्यार्थ ज्ञान से अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है । इस अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और जब चराचर समस्त जगत् का मूल अज्ञान ही नष्ट हो जाता है तो उसका कार्य जगत् भी नष्ट हो जाता है। इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि अज्ञाननिवृत्ति के फलस्वरूप जगत् के समूल दग्ध होने पर एक मात्र नित्य[2], शुद्ध[3], बुद्ध[4], मुक्त[5], सत्य[6], परमानन्द[7], अद्वय[8], चित्[9], प्रत्यग्[10] स्वरूप चैतन्य ही शेष रहता है। इन लक्षणों वाले ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति (ब्रह्म साक्षात्कार) होने पर विद्वानों का

---

[1] " लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरूद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरूद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभाव। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते"- वे.सा., पृ.- १२६

[2] ब्रह्मानित्यत्वशंड्कां निराकरोति नित्येति- वे.सा. तत्त्व.पा., पृ. -१४३

[3] शुद्धपदेनाविद्यादिदोषराहित्यम् – वहीं, पृ. -१४३

[4] बुद्धपदेन स्वप्रकाशस्वरूपत्वेन जाड्यादिकं व्यवच्छिद्यते - वहीं , पृ. -१४३

[5] मुक्तपदेन सर्वोपाधिराहित्यम् – वहीं, पृ. -१४३

[6] सत्यमित्यविनाशिस्वभात्वम्- वहीं , पृ. -१४३

[7] परमानन्दपदेन वैषयिकमनुष्यानन्दादिचतुर्मुखब्रह्मानन्दपर्यन्तानां कर्मजन्यत्वेन सातिशयत्वेन क्षयिष्णुत्वेन च तुच्छत्वात्तेभ्यो विलक्षणं निरतिशयानन्दस्वस्वरूपत्वं प्रतिपाद्यते – वहीं, पृ. -१४३

[8] अद्वयमिति नानात्वनिषेधेनैकत्वं बोध्यत इत्यर्थ: - वहीं, पृ. -१४३

[9] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'-२/१/१, तै.उ.

[10] "प्रत्यग्भावस्तावदेकोऽस्ति बुद्धौ, प्रत्यग्भाव: कश्चिदन्य: प्रतीचि। प्रत्यग्भावस्तत्कृतस्तत्र चान्यो, व्युत्पन्नोऽयं तत्र चाऽऽत्मेति शब्द:" ॥ १५९॥ सं.शा., पृ.- ११०

आत्यान्तिक कैवल्य होता ही है । कैवल्य वह स्थिति है, जहाँ केवल शुद्ध चैतन्य ही शेष रहता है, बाकि सब निवृत्त हो जाता है । इस विषय में श्रुति कहती है कि “आचार्य के उपदेश से अविद्यारूप बन्धन से मुक्त हुये उस तत्त्वदर्शी के लिये सदात्मस्वरूप की प्राप्ति में उतने ही समय तक देर है, जब तक कि देहादि के कारणभूत प्रारब्ध कर्म का उपभोग के द्वारा क्षय होकर देहपात नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है”[1] अर्थात् जीवन्मुक्ति तो वह साधक ब्रह्मज्ञान होते ही प्राप्त कर लेता है परन्तु परममुक्ति (विदेहमुक्ति) उसे तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक की प्रारब्ध का भोग पूर्ण नहीं कर लेता और वर्तमान देहपात नहीं हो जाता। देहपात होने तक ही परममुक्ति में विलम्ब होता है और जब साधक परममुक्त हो जाता है, तब “उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है”[2] ऐसा श्रुतिवचन है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई शंका करे कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर देवताओं की उपासना न करने पर देवता रूष्ट होकर ब्रह्मवेता का अहित करेगें, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होने पर द्वैत की समाप्ति हो जाती है । साधक और देवता एक ही आत्मा हो जाते हैं, भिन्न-भिन्न नहीं रहते एकत्व ही सर्वत्र दिखलाई देता है ।[3] जबकि ईष्या करने के लिये या दण्ड देने के लिये कम से कम दो लोगों की आवश्यकता होती है, जो कि अद्वैत दशा में सम्भव ही नहीं है । कौन किस को दण्ड देगा? सर्वत्र एक ही तत्त्व प्रकाशित होता है ।[4] अज्ञान की निवृत्ति होते ही ‘देवता और उपासक’ इन दोनों ही उपाधियों का अन्त हो जाता है, जिसके (उपाधि भेद के) कारण ये दोनों भिन्न-भिन्न दिखाई दे रहे थे। अत: श्रुति भी इसी बात को कह रही है कि- देवता भी उसी का आत्मा हो जाते हैं इसलिये उसे पराजित नहीं कर पाता । कारण

---

[1] “आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये”-६/१४/२, छा.उ., पृ.-६२९

[2] “तस्य हनदेवाश्चनाभूत्या ईशते” -१/४/१०, बृ.उ. , पृ.- २३४

[3] “यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते” ।।६॥ ई.उ.,पृ.-१५

[4] “यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत:, तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:”।। ७॥ वहीं, पृ.-१६

(अज्ञान) का अभाव हो जाने पर जनम-मरण का चक्र (कार्य) बाधित हो जाता है । श्रुति भी उसका (जन्म-मृत्यु का) प्रतिषेध ही कहती है अर्थात् श्रुति वचन इसमें प्रमाण है कि " यत् गत्वा न निवर्तन्ते" अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार के उपरान्त वहाँ (ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था) से कोई लौटता नहीं है।

श्रुति स्मृतियों के अनुसार सद्यमुक्ति ही जीवन्मुक्ति है । सर्वज्ञात्मन् ने संक्षेपशारीरक में भी जीवन्मुक्ति के लिये सद्यमुक्ति शब्द का प्रयोग किया है ।[1] इसे सद्यमुक्ति इसलिये कहा गया है क्योंकि ब्रह्मज्ञान होते ही यह तुरन्त हो जाती है। परममुक्ति की तरह इसमें देहपात होने तक का विलम्ब नहीं होता । अब ग्रन्थकार यह बताते हैं कि जीवन्मुक्ति की अवस्था में गुरु और शिष्य की क्या स्थिति होती है? गुरु की अवस्था वास्तविक न होकर कल्पित हो जाती है, क्योंकि गुरु एक उपाधि है, जो कि अज्ञान कल्पित है। ज्ञान दशा में सभी उपाधि भेद समाप्त हो जाते हैं। जो वस्तु सीमित दशा में वास्तविक प्रतीत होती है, वह अब कल्पना मात्र ही प्रतीत होती है, तत्त्वत: उसमें भी एक मात्र चैतन्य ही दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार शिष्य को भी जीवन्मुक्ति प्राप्त होने पर वह ज्ञान रुपी अग्नि से दग्ध अज्ञान का आभासमात्र रह जाता है अर्थात् जिस प्रकार रस्सी को आग में जलाये जाने पर रस्सी के जल जाने पर भी उसकी लम्बवत् आकृति मात्र शेष रह जाती है, उसी प्रकार अज्ञान के निवृत हो जाने पर भी उसका आभास मात्र शेष रह जाता है। तत्त्वत: तो वहाँ भी चैतन्यरूप ही अवशिष्ट रहता है और गुरु-शिष्य का भेद समाप्त होकर दोनों एक ही चैतन्यरूप में भासित होते हैं। देहसम्पन्न रहते हुये भी ये विदेह होते हैं। इस बात को बृहदारण्यकोपनिषद् में सोदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि- 'जिस प्रकार सर्प की काँचुली बाँबी के ऊपर मृत और सर्पद्वारा परित्यक्त हुई पड़ी रहती है, उस प्रकार इनका (जीवन्मुक्त का)

[1] "जीवन्मुक्तिप्रत्ययं शास्त्रजातं जीवन्मुक्ते कल्पिते योजनीयम्। तावन्मात्रेणार्थवत्त्वोपपत्ते: सद्यो मुक्ति: सम्यमेतस्य हेतो:"- ३९, जीवन्मुक्तिसमर्थनम्, सं.शा., पृ. – ५७८

शरीर पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण ब्रह्म ही है, तेज ही है ।[1] ऐसा श्रुति वचन भी है।

यहाँ पूर्वपक्षियों ने एक शंका प्रस्तुत कर इस विषय में अपना मत प्रकट किया है । ये जीवन्मुक्ति के समर्थक नहीं हैं । केवल विदेह-मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं । इनका कहना है कि अभेद या अद्वैत दशा में जीवन्मुक्त गुरु का उपदेश करना सम्भव नहीं होगा क्योंकि उपदेश के लिये उपदेशक और शिष्य दोनों की आवश्यकता होती है, जबकि अद्वैत दशा में इनका भेद समाप्त होकर सब कुछ एकमात्र चैतन्यरूप में ही अवशिष्ट रह जाता है । अत: कौन किसको उपदेश देगा ? यह समस्या उत्पन्न होगी । और यह माना जाये कि जीवन्मुक्त गुरु मुक्तावस्था में भी उपदेश करता है तो जीवन्मुक्ति का प्रयोजन अभेद दृष्टि या अद्वैत दशा का खण्डन हो जायेगा क्योंकि उपदेश देते ही भेदबुद्धि उत्पन्न होगी और भेद अपना स्थान ग्रहण कर लेगा । तब गुरु बन्धनावस्था की तरह पुन: उपदेष्टा हो जायेगा और उपदेश ग्रहण करने वाला शिष्य बन जायेगा और मुक्ति का प्रयोजन "अद्वैतावस्था की प्राप्ति" का अभाव हो जायेगा । अत: जीवन्मुक्ति मानने में इनके समक्ष अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं । इसलिये ये जीवन्मुक्ति का समर्थन नहीं करते । और इसी कारण छान्दोग्योपनिषद् की चिरश्रुति[2] का तात्पर्य भी अन्य प्रकार से ग्रहण करते हैं । चिरश्रुति का तात्पर्य यह है कि मात्र अज्ञान के नष्ट होने या हट जाने से ही आचार्यवान् पुरुष मुक्त नहीं होता अपितु मुक्ति के लिये देहपात होना भी आवश्यक है, देहयुक्त रहने पर वह किसी न किसी प्रकार से अज्ञान से जुड़ा हुआ रहता ही है । मुक्त होने में शरीर बाधक है । अत: जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है । देहमुक्त होने पर ही वह सत्सम्पन्न होता है । चिरश्रुति इसी अभिप्राय से कही गई है, ऐसा कुछ पूर्वपक्षियों का मत है ।

---

[1] "तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृत: प्राणो ब्रह्मैव तेज एव"- ४/४/७ , बृ.उ., पृ. – १०६५

[2] "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये"- ६/१४/२, छा.उ., पृ.-६२९

मूल ग्रन्थ (४)-

भूमन्यवस्यति नमस्यति वासुदेवं सङ्गं निरस्यति तपस्यति तत्त्वमर्थम् ।

सन्यस्य कर्म परि [वरि] वस्यति वेदितारं धन्यो जगत्ययमहोमुनिरेकदण्डी ॥

अन्वय: - भूमनि अवस्यति वासुदेवं नमस्यति सङ्गं निरस्यति तत्त्वमर्थम् तपस्यति । संन्यस्य कर्म वेदितारं परि [वरि] वस्यति । अहो ! धन्यो महोमुनिरेकदण्डी जयति ॥

अनुवाद (४)-

जो भूमि पर सोते हैं, वासुदेव को सतत प्रणाम करते हैं, आसक्ति को जिसने छोड़ दिया है, तत्त्वम् अर्थों की जो तपस्या करते हैं, संन्यस्थ होकर कर्म करते हुये जो आत्मा का ही चिन्तन करते है, ऎसे संन्यासी गुरु धन्य है, उन्हें नमस्कार है ।

मूल ग्रन्थ (५)-

श्रीदेवेश्वरपादपङ्क़जरजस्संपर्कपूतात्मनासर्वज्ञात्मगिराङ्कितेन मुनिना व्याख्यानमेतत् कृतम् ।

ब्रह्मात्मैक्यपरस्य वेदशिरस: सन्यासिनां श्रेयसे तैरेवं निजधर्मपालनपरैर्नित्यं निषेव्यं तु तत् ॥

इति महावाक्यार्थ: समाप्त:

अन्वय:- श्रीदेवेश्वरपादपङ्कजरजस्संपर्कपूतात्मना सर्वज्ञात्मगिराङ्कितेन एतत् व्याख्यानम्, ब्रह्मात्मैक्यपरस्य वेदशिरस: सन्यासिनां श्रेयसे (कृतम्) मुनिना कृतम् । नित्यं निजधर्मपालनपरै: तैरेवं तत् नित्य: तु निषेव्यं ॥

अनुवाद (५)-

श्रीमद्सुरेश्वर गुरु के खिले हुये चरणकमलों की रज के सम्पर्क से पवित्र हुये सर्वज्ञात्म मुनि की वाणी से अंकित यह व्याख्यान, ब्रह्मात्मैक्य ही जिसका लक्ष्य है तथा जो वेद को सिर पर धारण किये रहते हैं, ऎसे संन्यासियों के कल्याण (मोक्ष) के लिये किया गया है और अपने धर्म के पालन में सतत रत उन संन्यासियों के द्वारा ही उस नित्य परब्रह्म का सेवन किया जाना चाहिये ।

॥ चतुर्थ अध्याय ॥

[तत्त्वंपदार्थव्याख्यानम्]

तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ - निर्धारण

मंगलाचरण-

महदादिजगद्यस्माज्जातं रज्जुभुजङ्गवत् ।

तं नमामि सदानन्दमन्तर्धीनृत्तसाक्षिणम् ॥

अन्वय- यस्मात् रज्जुभुजङ्गवत् महदादि जगद् जातम्, तं सदानन्दं अन्तर्धीनृत्तसाक्षिणं नमामि ।

अनुवाद-

जिससे जगत् रज्जु और सर्प की तरह महदादि सम्पूर्ण उत्पन्न होता है, उस सदानन्दस्वरूप अन्त:करण की क्रियाओं के साक्षी को नमस्कार करते हैं ।

मूल ग्रन्थ (१)-

तच्छब्द [सच्छब्द] वाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म । तस्मादाकाशवायुतेजोऽन्नानि पञ्चमहाभूतानि क्रमेण जातानि । अन्नशब्देन पृथिव्युच्यते । तस्मादाकाश: । आकाशाद्वायु: । वायोस्तेज: । तेजस आप: । अद्भ्योऽन्नम् । अन्नशब्दवाच्या पृथिवी । एवमेतान्य-पञ्चीकृतमहाभूतानि । तेभ्य: सप्तदशक लिङ्गमुत्पन्नम् । वाक्पादपाणिपायूपस्थाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । प्राणापानव्यानोदानसमाना इति पञ्च वायव: । मनोबुद्धिश्चेत्यन्त:करणद्वयम् ; संशयात्मकं मन:, निश्चयात्मिका बुद्धि: इत्येकमन्त:[मेवान्त:] करणमुभयथा व्यपदिश्यते, क्रियाभेदात्, पाचकलावकादिवदित्येतत् सप्तदशकं लिङ्गमु [लिङ्गमित्यु] च्यते । अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सप्तदशकं लिङ्गं हिरण्यगर्भ: त [एत] त्सूक्ष्मशरीरमात्मन: ।

अनुवाद(१)-

तत् शब्द का वाच्य है- अविद्याविशिष्ट ब्रह्म । उससे आकाश, वायु, तेज, जल, अन्न ये पञ्चमहाभूत क्रम से उत्पन्न होते हैं। अन्न शब्द से पृथिवी को कहा गया है। उससे (अविद्याशबल ब्रह्म से) आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से अन्न की उत्पत्ति होती है। अन्नशब्द वाच्य पृथिवी है। इस प्रकार ये अपञ्चीकृत महाभूत हैं। उनसे सप्तदशात्मक लिङ्ग शरीर की उत्पत्ति होती है। वाक्, पाद, पाणि, पायु, और उपस्थ ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पञ्च बुद्धीन्द्रियाँ हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इस प्रकार ये पञ्च वायु हैं। मन और बुद्धि- ये दो अन्त:करण हैं। मन संशयात्मक और बुद्धि निश्चयात्मिका होती है। इस प्रकार एक ही अन्त:करण क्रिया के भेद से पाचक, लावकादि के समान दो प्रकार से कहा जाता है। इस प्रकार यह सप्तदशात्मक लिङ्गशरीर कहा जाता है। अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उसका कार्य सप्तदशात्मक लिङ्ग हिरण्यगर्भ (कहा जाता है), यह समष्ट्यात्मक आत्मा का सूक्ष्मशरीर है।

विश्लेषण (१)-

अहं और ब्रह्म पदों का अर्थ बतला देने के उपरान्त ग्रन्थकार तत् और त्वम् पदों का वाच्यार्थ प्रस्तुत करते हैं। तत् शब्द का वाच्यार्थ है- अविद्याशबल ब्रह्म अर्थात् अविद्या से विशिष्ट ब्रह्म, जिसे अद्वैत-वेदान्त में ईश्वर भी कहा जाता है। इसी से आकाश, वायु, तेज, जल और अन्न की उत्पत्ति होती है। अन्न शब्द से यहाँ पृथ्वी को कहा गया है। उससे अर्थात् तमोगुण की प्रधानता से युक्त और विक्षेप शक्ति सम्पन्न अज्ञान से उपहित चैतन्य (ईश्वर) से आकाश उत्पन्न होता है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती हैं।[1] ये सभी अपञ्चीकृतमहाभूत कहे जाते हैं। ये अत्यन्त सूक्ष्मरूप होने से तन्मात्रा भी कहे जाते हैं।

[1] तम: प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाश आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्य: पृथिवी चोत्पद्यते " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:" इत्यादिश्रुते: - वे.सा., पृ.- ६२

अद्वैत-वेदान्त में ईश्वर को ही सृष्टि का आदि कारण माना जाता है । अज्ञान की उपाधि से उपहित हुआ ईश्वर नाम का चैतन्य ही समस्त जगत् का निमित्त और उपादान दोनों प्रकार का कारण है । आवरण और विक्षेप नामवाली शक्तिद्वय से सम्पन्न अज्ञान से उपहित चैतन्य अर्थात् ईश्वर अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्तकारण और अपनी उपाधि अज्ञान की प्रधानता से जगत् का उपादान कारण होता है, जिस प्रकार मकड़ी जाले रूपी कार्य के प्रति, अपनी (चैतन्य की) प्रधानता से निमित्त और अपने शरीर की प्रधानता से उपादान कारण होती है । अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला बनाने के लिये रुई, लकड़ी और यन्त्रादि लोकप्रसिद्ध वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखती है, इन वस्तुओं के बिना अपनी ही लार से निर्मित आतान-वितान वाले तन्तुओं से अपना जाला बना लेती है, उसी प्रकार ईश्वर सृष्टि के पूर्व अकेला ही बिना किसी की सहायता की अपेक्षा के केवल अपनी माया शक्ति (अज्ञान) के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर देता है ।[1] ईश्वर की निमित्तोपादानकारणता को सिद्ध करने के लिये अन्य दृष्टान्त के साथ मकड़ी का दृष्टान्त मुण्डकोपनिषद् में भी दिया गया है । जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है, जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्य से निर्जीव केश तथा रोएँ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है ।[2] इसलिये सर्वज्ञात्मन् ने कहा कि उस अविद्याशबल ब्रह्म से आकाशादि की उत्पत्ति होती है । इन अपञ्चीकृत महाभूतों से सत्रह अवयवों वाले लिङ्ग की उत्पत्ति होती है । ये सत्रह अवयव हैं- पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ, पञ्चप्राण और द्विविध अन्त:करण । वाक्, पाद, पाणि, पायु, और उपस्थ- ये पञ्च कर्मेन्द्रियाँ हैं । श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण- ये पञ्च बुद्धीन्द्रियाँ हैं । प्राण,

---

[1] शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति । यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति - वहीं, पृ. - ५९

[2] "यथोर्णनाभि: सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति । यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" - १/१/६, मु.उ.

अपान, व्यान, उदान और समान इस प्रकार ये पञ्च वायु हैं। मन और बुद्धि- ये दो अन्त:करण हैं। मन संशयात्मक और बुद्धि निश्चयात्मिका कही गई हैं। ये दो अलग- अलग अन्त:करण न होकर एक ही अन्त:करण के दो रूप हैं। अलग-अलग प्रकार की क्रिया करने के कारण यह भेद दिखलाई देता है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति पाक क्रिया करते समय पाचक और छेदन क्रिया करते समय लावक कहलाता है, उसी प्रकार एक ही अन्त:करण संकल्प-विकल्प करते समय मन और निश्चय- विनिश्चय करते समय बुद्धि कहलाता है। ये दोनों अन्त:करण की वृत्तियाँ भी कही गई हैं।[1] इस प्रकार इन सत्रह अवयवों से मिलकर बना हुआ यह सप्तदशावयवात्मक लिङ्ग कहलाता है। इसे ही वेदान्तसार में सूक्ष्मशरीर या लिङ्गशरीर भी कहा गया है।[2] अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूत और उनका कार्य यह सप्तदशात्मक लिङ्गशरीर हिरण्यगर्भ कहलाता है, जो कि समष्ट्यात्मक आत्मा का सूक्ष्मशरीर होता है। अपञ्चीकृत सूक्ष्म तन्मात्राओं से निर्मित होने के कारण इसे सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। इस हिरण्यगर्भ को ही वेदान्तसार में सूत्रात्मा और प्राण भी कहा गया है। सभी प्राणियों के लिङ्गशरीर में सूत्र के समान अनुस्यूत होने के कारण इसे सूत्रात्मा कहते हैं।[3]

मूल ग्रन्थ (२)-

त्रिवृत्करणश्रुतिसिद्धानि पञ्चीकृतमहाभूतानि। तेभ्य उत्पन्नमधिदैवं ब्रह्माण्डम् ; अध्यातं अधिभूतं च करशिरश्चरणादिमल्लोकप्रसिद्धं स्थूलशरीरजातम्। एतानि पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च ब्रह्माण्डं प्राणिनां स्थूलशरीरजातं च सर्वं विराडित्युच्यते। एतत्स्थूलशरीरमात्मन:। एकमेव स्थूलशरीरं विराडाख्यम् ; एकमेव सूक्ष्मशरीरं हिरण्यगर्भाख्यम् ; एक एव

---

[1] "बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्त:करणवृत्ति:। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकान्त:करणवृत्ति:"- वे.सा., पृ. -६६

[2] "सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं चेति" – वही, पृ. – ६५

[3] "एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ: प्राणश्चेत्युच्यते। सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च"- वे.सा., पृ. - ७४

शरीरद्वयाभिमानी जीव: त्वंपदार्थ:, सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मैव शरीरद्वयानुप्रविष्टं जलसूर्यवद् घटाकाशवच्च प्राणधारणक्रियायोगाज्जीव इत्युच्यते । स च जीव: जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिसाक्षी जाग्रतस्वप्नसुषुप्तिव्यतिरिक्तो निर्गुणो निरवयवो निस्सङ्गो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयस्वभाव: परमात्मैव त्रिष्वपि कालेषु सन्नप्यन्त:करणसन्निधानाज्जाग्रतस्वप्नसुषुप्तीरन्त:करणावस्था: क्रियाकारकफलानि चाविकृत: पश्यति ।

अनुवाद (२)-

पञ्चीकृत महाभूत श्रुतिसिद्ध त्रिवृत्करण सिद्धान्त सम्मत हैं । उनसे (पञ्चीकृत महाभूत से) आधिदैविक ब्रह्माण्ड, आध्यात्मिक जगत् और आधिभौतिक हाथ, पैर, शिरादि से युक्त लोकप्रसिद्ध स्थूल शरीर उत्पन्न होता है । पञ्चीकृत महाभूत और उनके कार्य समस्त ब्रह्माण्ड, प्राणिवर्ग और उत्पन्न स्थूल शरीर- इन सभी को विराट् कहा जाता है । यह समष्ट्यात्मक आत्मा का स्थूल शरीर है । एक ही स्थूलशरीर विराट् कहा जाता है और एक ही सूक्ष्मशरीर हिरण्यगर्भ कहा जाता है । एक ही शरीरद्वय (जड़ और चेतन) का अभिमानी जीव 'त्वम्' पद का अर्थ है । सत् या तत् शब्द का वाच्य ब्रह्म ही 'जल में सूर्य के समान' और 'घट में आकाश के समान' दोनों शरीरों में प्रवेश करके, प्राणधारण की क्रिया के योग से 'जीव' इस प्रकार कहा जाता है । वह जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थात्रय का साक्षी, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थात्रय से भिन्न निर्गुण, निरवयव, निस्सङ्ग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द और अद्वय स्वभाव परमात्मा ही तीनों कालों में विद्यमान रहकर अन्त:करण के अत्यधिक समीप होने से, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन अन्त:करण की अवस्थात्रय की सभी क्रियाओं तथा क्रिया फलों को अविकृतरूप से देखता है ।

विश्लेषण (२) –

सूक्ष्म तन्मात्रा अर्थात् अपञ्चीकृत तत्त्वों की सृष्टि के बाद ग्रन्थकार अपेक्षाकृत स्थूल तत्त्वों अर्थात् पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों की सृष्टि की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों से जो पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है, वह पञ्चीकरण की प्रक्रिया से होती है। यह पञ्चीकरण कोई काल्पनिक सिद्धान्त नहीं है। यह प्रक्रिया श्रुतिसम्मत त्रिविधकरण के सिद्धान्त पर आधृत है। अत: पञ्चीकरण से निर्मित पञ्चमहाभूत भी श्रुतिसिद्ध हैं। ये पञ्चमहाभूत पञ्चीकृत होते हैं। आकाशादि पाँच सूक्ष्मभूतों में प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके, प्राप्त होने वाले उन दश भागों में, जो प्राथमिक पाँच भाग हैं, उनमें प्रत्येक के चार समान भाग करके, उन चार भागों को अपने अपने द्वितीय (अविभाजित) अर्धभाग को छोड़कर अन्य भूतों के द्वितीय अविभाजित अर्धभागों में जोड़ देना ही पञ्चीकरण है।[1] ऐसा ही कहा भी गया है- "प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करके, फिर प्रथम भाग को चतुर्धा विभक्त करके, अपने से भिन्न चार भूतों के द्वितीय भाग में जोड़ देने से, वे आकाशादि पञ्चात्मक (पञ्चीकृत) हो जाते है।"[2] पञ्चीकरण हो जाने पर प्रत्येक महाभूत (स्थूल भूत) का स्वरूप इस प्रकार होगा-

पृथ्वी = १/२ पृथ्वी + १/८ जल +१/८ तेज +१/८ वायु +१/८ आकाश
जल = १/२ जल + १/८ पृथ्वी +१/८ तेज +१/८ वायु +१/८ आकाश
तेज = १/२ तेज + १/८ पृथ्वी +१/८ जल +१/८ वायु +१/८ आकाश
वायु = १/२ वायु + १/८ पृथ्वी +१/८ जल +१/८ तेज +१/८ आकाश
आकाश= १/२ आकाश + १/८ पृथ्वी+१/८ जल +१/८ तेज +१/८ वायु

[1] " स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य्, तेषु दशषु भागेषु प्राथमिकान् पञ्च भागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य, तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्" - वहीं, पृ. -७८

[2] "द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुन:। स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते"-१/२७, प.द.

इस प्रकार आकाशादि पाँच महाभूतों की उत्पत्ति इस पञ्चीकरण-प्रक्रिया के द्वारा होती है । इस पञ्चीकरण-प्रक्रिया को ही विस्तार से स्पष्ट करने के लिये शंकराचार्य ने "पञ्चीकरण" नामक एक लघु ग्रन्थ की रचना की है । इस पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अप्रामाणिक होने की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि त्रिवित्करण की श्रुति पञ्चीकरण को भी उपलक्षित करती है । त्रिवित्करण को स्पष्ट करते हुये छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि " उस सत् नामक देवता ने ईक्षण किया कि अब मैं इस जीवात्मरूप से इन तीनों (तेज, अन्न और जल) देवताओं में अनुप्रवेश करके नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ और उनमें से एक- एक देवता को त्रिवित्-त्रिवित् (तीन रूपों वाला) करूँ । ऎसा ईक्षण करके उस सत् नाम वाले परमात्म देवता ने अपने द्वारा सृजे गए तेज, जल और अन्न में प्रत्येक को त्रिवित्- त्रिवित् अर्थात् तिगुना कर दिया ।[1] यही त्रिवित्करण की श्रुति है । इससे पञ्चीकरण भी उपलक्षित होता है । यहाँ केवल तेज, जल और अन्न (पृथ्वी)– इन तीन भूतों का उल्लेख हुआ है इसलिये तीन की अपेक्षा से त्रिवित्करण का वर्णन किया गया है । जहाँ पर तैत्तिरीयोपनिषद् आदि में पाँच महाभूतों का वर्णन है, वहाँ पर पञ्चीकरण अभीष्ट है, ऎसा समझना चाहिये और पञ्चीकरण की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं करना चाहिये । ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि पाँचों महाभूतों के समान रूप से पञ्चात्मक होने पर भी, उनमें अपने-अपने भाग का विशेषभाव (भूयस्त्व अथवा आधिक्य) होने के कारण, उस उस नाम से व्यवहार होता है ।[2] पञ्चीकरण के अनन्तर आकाश में शब्द स्फुट रूप से अभिव्यक्त होता है । वायु में शब्द और स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्पष्टतया अभिव्यक्त होते हैं । इन उत्पन्न स्थूल महाभूतों से आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक ब्रह्माण्ड तथा शिर, पैर, हस्तादि से

---

[1] " सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति" - ६/३/२-३, छा.उ.

[2] " वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वाद:" - २/४/२२, ब्र.सू., पृ.- ५६३

युक्त स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। आधिदैविक जगत् में सभी प्राकृतिक वस्तुएँ और प्राकृतिक देवी-देवता आते हैं। जैसे- सूर्य, चन्द्रमा, तारे, ग्रह-नक्षत्रादि। आध्यात्मिक में सभी प्राकृतिक शक्तियाँ आती हैं और आधिभौतिक जगत् में सभी पहाड़, नदी, नाले और कंकड- पत्थरादि से निर्मित वस्तुएँ आती हैं। ये सभी ब्रह्माण्ड कहे जाते हैं। ब्रह्माण्ड को परिभाषित करते हुये वेदान्तसार के टीकाकार रामतीर्थ अपनी टीका में लिखते हैं कि- चौदह लौकों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, अतल,वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल, और पाताल) को चारों ओर से लोकालोक पर्वत घेरे हुए हैं, लोकालोक पर्वत को भी उसके बाहर पृथिवी घेरे हुए हैं और पृथिवी को भी उसके बाहर समुद्र घेरे हुए हैं। इन सबको मिलाकर ब्रह्माण्ड कहा जाता है।[1] इसके अतिरिक्त स्थूल भूतों से उत्पन्न ब्रह्माण्ड में रहने वाले प्राणियों के स्थूल शरीर चार प्रकार के होते हैं– जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, और स्वेदज। जरायु अर्थात् गर्भाशय से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पशु आदि जरायुज हैं। अण्डों से उत्पन्न होने वाले पक्षी और सर्पादि अण्डज हैं। धरती को भेद कर उत्पन्न होने वाले तृण और वृक्षादि उद्भिज्ज हैं तथा पसीने से पैदा होने वाले जुएँ और मच्छरादि स्वेदज हैं।[2] इन सभी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों और उनके कार्यों को ब्रह्माण्ड तथा प्राणियों के स्थूल शरीरों को विराट् कहा जाता है। यह समष्ट्यात्मक आत्मा का स्थूल शरीर है। वेदान्तसार में 'वैश्वानर' भी कहा गया है। विश्व के सभी नरों (प्राणियों) का अधिष्ठाता होने के कारण इसे वैश्वानर कहते हैं और नाना रूपों देव, मनुष्य, पशु, गिरि, नदी, और समुद्रादि के रूप में विराजमान होने के कारण 'विराट्' कहा जाता है।[3] एक ही स्थूलशरीर

---

[1] एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्यपृथिवेतद्बाह्यसमुदैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते" - वे.सा., पृ.- ८३

[2] चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि" – वे.सा., पृ.- ८२

[3] " एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडिति चोच्यते, सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च" – वे.सा., पृ.- ८४

विराट् और एक ही सूक्ष्मशरीर हिरण्यगर्भ कहा जाता है। त्वं पद का अर्थ भी एक ही जीव है, जो कि शरीरद्वयाभिमानी कहा जाता है अर्थात् जड़ और चेतन (स्थूलशरीर और सूक्ष्म शरीर) का अधिष्ठान जीव भी एक ही है। सत् (तत्) शब्द का वाच्य ब्रह्म ही जड़ और चेतन (स्थूलशरीर और सूक्ष्म शरीर) दोनों शरीरों में प्रवेश करके जल में सूर्य की तरह और घट में आकाश की तरह प्राणों को धारण करने के कारण से जीव कहा जाता है। यहाँ पर वेदान्त के दो प्रसिद्ध मतों की और संकेत किया गया है। ये दोनों ही मत जीवब्रह्मैक्य को लक्ष्य करके दिये गये हैं। प्रथम मत प्रतिबिम्बवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार जीव तथा ईश्वर में सामान्य रूप से रहने वाले चैतन्य को बिम्ब मान कर उसी का प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न उपाधियों में पड़ने से उन बिम्ब-प्रतिबिम्बों को भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से कहते हैं। बिम्ब रूप चैतन्य का वह प्रतिबिम्ब, जो माया या अविद्या में पड़ता है, उसे ईश्वर चैतन्य कहा जाता है और जो प्रतिबिम्ब अन्त:करण में पड़ता है, उसे जीव-चैतन्य कहा जाता है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर है, जो घट तथा जलाशय के जल में पड़ने वाले सूर्य-प्रतिबिम्ब में है अर्थात् अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर और बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहा गया है। किन्तु अज्ञानरूप उपाधि से रहित बिम्ब रूप चैतन्य शुद्ध है। यह मूलत: विवरणकार का मत है, जो ब्रह्म को बिम्बरूप और जीव को प्रतिबिम्बरूप मानते हैं। इसी को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि इसी मत के समर्थक हैं। दूसरा मत भामतीकार वाचस्पतिमिश्र का अवच्छेदवाद है। उनका कहना है कि 'प्रतिबिम्बवाद' के स्वीकार करने में यह दोष है कि 'जीवों का नाश' ही मुक्ति का अर्थ होगा क्योंकि ज्ञान के द्वारा 'अविद्या' का नाश होने पर दर्पण के नष्ट होने से प्रतिबिम्ब के विनाश के समान 'अविद्या प्रतिबिम्बित जीव' भी नष्ट हो जायेंगे। अत: जीव की सत्ता के सुरक्षार्थ घटाकाश का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। जैसे- आकाश एक और सर्वव्यापक है, किन्तु भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण घटाकाश (घड़े के बीच का आकाश) मठाकाश आदि

अनेक रूपों में भासित होता है और व्यवहार सम्पादनार्थ उसके विभाग की कल्पना कर लेते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म एक और सर्वव्यापक है। वही ब्रह्म अविद्यारूप उपाधिभेद के कारण नाना जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। वास्तव में विषय-विषय और जीव-जीव में कोई भेद नहीं है क्योंकि सर्वत्र मूलभूत एक ही शुद्धचैतन्य की सत्ता स्थित है। नानात्व का केवल भ्रम है क्योंकि उपाधिभूत माया के कारण उस अनन्त का सान्तरूप में आभास होता रहता है। जीव सान्तरूप में प्रतीत होते हुये भी वास्तव में 'ब्रह्म' से अभिन्न है। अविद्यारूप उपाधि को तोड़कर अपने अनन्तरूप को पा लेना ही मुक्ति है। इसी को अवच्छेदवाद कहते हैं।

अत: सर्वज्ञात्मन् इन्हीं मतों के अनुसार जीव को परिभाषित करते हुये कहते हैं कि जैसे- सूर्य जल में प्रवेश करता है और आकाश घट में प्रवेश करता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म स्थूलशरीर और सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करके जीव कहलाता है। तत्त्वत: वह जीव भी ब्रह्म ही है, शरीर रूप उपाधि से परिच्छिन्न होकर वह जीव कहलाता है, जैसे कि एक ही आकाश घट रूप उपाधि से परिच्छिन्न होकर घटाकाश कहलाता है, तत्त्वत: तो वह सर्वव्यापी आकाश ही है। संक्षेपशारीरक में जीव-ब्रह्म के अभेद को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि – "तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्"[1] तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य"[2] आदि श्रुतियों से जब उस परमेश्वर का ही जीवरूप में आना प्रमाणित होता है, तब उसको ईश्वर से भिन्न कैसे मान सकते हैं ? यद्यपि प्रवेशार्थक श्रुतियाँ अर्थवाद हैं, फिर भी उनका स्वार्थ में तात्पर्य मानना पड़ता है, क्योंकि उनका किसी प्रामाणान्तर से विरोध नहीं होता। जैसे- सूर्य अपने उत्पादित जल में प्रविष्ट हो जाता है, मेघ अपने बरसाये जल में, पुरुष अपने बनाये दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट होता है, वैसे ही ईश्वर भी अपने रचित प्रपञ्च में प्रविष्ट होता है। जल में सूर्य का प्रवेश दो

[1] तै.उ.- २/६/१

[2] छा.उ. ६/३/२

प्रकार से होता है- (1) रश्मियों के द्वारा साक्षात् तथा (2) प्रतिबिम्ब के द्वारा परम्परया । वैसे ही ईश्वर का भी प्रपञ्च में प्रवेश दो प्रकार से होता है – (1) अन्तर्यामी रूप से साक्षात् तथा (2) प्रतिबिम्बरूप से अर्थात् परम्परया । यहाँ प्रवेश श्रुतियों ने द्वितीय प्रकार का जीवरूप से प्रवेश ही कहा है, अन्तर्यामीरूप से प्रवेश का प्रतिपादन नहीं किया है क्योंकि "प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" इत्यादि श्रुतियाँ उसे प्राणनादि व्यापारवान् कहती हैं । अत: ईश्वर से जीव का कोई भेद सिद्ध नहीं होता ।[1] अब सर्वज्ञात्मन् इस जीव के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यह जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से भिन्न (परे) है परन्तु इन तीनों अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का साक्षी होता है । साक्षी वह होता है, जो अविकृतरूप से निर्लिप्त भाव से तटस्थ द्रष्टा होता है । अत: जीव इन तीनों अवस्थाओं में रहते हुये भी निर्लिप्त रूप से इन अवस्थाओं को तटस्थ रूप से देखता है । वह जीव निर्गुण, निरवयव (अखण्ड), निस्सङ्ग (निर्लिप्त), नित्य[2], शुद्ध[3], बुद्ध[4], मुक्त[5], सत्य[6], परमानन्द[7] तथा अद्वय[8] स्वभाव वाला परमात्मा ही (ब्रह्म) है, जो कि तीनों कालों भूत, भविष्य और वर्तमान में रहता है और अन्त:करण के अत्यधिक निकट रहने के कारण अन्त:करण की तीनों अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के सभी क्रिया-कलापों और क्रिया फलों को अविकृतरूप से देखता है अर्थात् सब कुछ देखते हुये भी

---

[1]"अपि च विश्वमनुप्रविवेश तत् परममेव पदं परमात्मन: । इति वदत्सु सुह्रत्स्विव तत्परश्रुतिवच:सु कथं स ततोऽधिक:" ॥११ ॥ जीवस्य संसरणनिरूपणम्, सं.शा., पृ.- ४१९

[2] ब्रह्मानित्यत्वशंङ्कां निराकरोति नित्येति- वे.सा.तत्त्व.पा., पृ. -१४३

[3] शुद्धपदेनाविद्यादिदोषराहित्यम् – वे.सा.तत्त्व.पा., पृ. -१४३

[4] बुद्धपदेन स्वप्रकाशस्वरूपत्वेन जाड्यादिकं व्यवच्छिद्यते – वही

[5] मुक्तपदेन सर्वोपाधिराहित्यम् – वही

[6] सत्यमित्यविनाशिस्वभात्वम्- वही

[7] परमानन्दपदेन वैषयिकमनुष्यानन्दादिचतुर्मुखब्रह्मानन्दपर्यन्तानां कर्मजन्यत्वेन सातिशयत्वेन क्षयिष्णुत्वेन च तुच्छत्वात्तेभ्यो विलक्षणं निरतिशयानन्दस्वस्वरूपत्वं प्रतिपाद्यते – वही

[8] अद्वयमिति नानात्वनिषेधेनैकत्वं बोध्यत इत्यर्थ: - वही

उसके स्वरूप में तनिक भी परिवर्तन या विकार नहीं आता । इसीलिये इसे निस्सङ्ग स्वरूप वाला कहा गया है ।[1]

मूल ग्रन्थ (३)-

इन्द्रियैर्थोपलब्धिर्जागरितं स्थूलकर्मनिमित्तम् ; करणेषूपसंह्रतेषु जागरितसंस्कारज: क्षुद्रकर्मनिमित्तो वासनारूपहस्त्यादिविषय: स्वप्न: ; स्थूलक्षुद्रकर्मद्वयोपरमे तत्कृत-जाग्रतस्वप्नद्वयोपरमाद् वटकणिकायामिव वटवृक्षस्यान्त:करणस्य सच्छब्दवाच्ये मायाविनि ब्रह्मणि शबले कारणात्मनावस्थानं सुषुप्ति: । एवमेतानि जाग्रदादिस्थानानि जीव: क्रमतोऽक्रमतश्च पश्यति । एवमवधार्य पूर्वं समाध्यारम्भकाले मुमुक्षु: पश्चान्निश्चलेऽन्त:करणे जाते क्षेत्रजातं सर्वं क्रमेण प्रविलापयेत्, क्षेत्रज्ञं च परिशेषयेत् ।

अनुवाद (३)-

इन्द्रियों के द्वारा अर्थों की प्राप्ति की अवस्था जाग्रतावस्था कहलाती है, जो स्थूल कार्मों का निमित्त है । जाग्रतावस्था में करणों में संग्रहित संस्कारों को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म कर्मों का निमित्त, वासनारूप हस्तादि का विषय स्वप्नावस्था है । स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के कर्मों के लय हो जाने पर और उन कर्मों से उत्पन्न जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं के भी लय हो जाने पर, वटवृक्ष के वटकण में समाहित होने के समान अन्त:करण का सद् शब्द वाच्य कारणरूप मायोपहित शबल ब्रह्म में लय होने की आत्मावस्था को सुषुप्ति कहा जाता है । इस प्रकार इन जाग्रतादि अवस्थाओं को जीव क्रम और अक्रम दोनों प्रकार से देखता है । अध्ययन काल से पूर्व ही इस प्रकार के ज्ञान को धारण करने के बाद मुमुक्षु का अन्त:करण निर्मल हो जाने पर, शरीर से उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों का लय हो जाता है और साक्षी मात्र शेष रह जाता है ।

[1] "असङ्गो ह्ययं पुरुष:" -४/३/१५, बृ.उ.

विश्लेषण (३) –

जीव के स्वरूप को प्रस्तुत करने के बाद ग्रन्थकार अन्त:करण की तीनों अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति को क्रमश: परिभाषित करते हुये कहते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों की उपलब्धि (प्राप्ति) को जाग्रतावस्था कहते हैं। यह जाग्रतावस्था ही सभी स्थूल कर्मों की निमित्त (कारण) होती है। वेदान्तपरिभाषाकार जाग्रतावस्था को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि- जाग्रत दशा वह होती है, जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है। अन्य अवस्थाओं में इन्द्रियों के न होने से (इन्द्रियव्यापार न होने से) उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। इन्द्रियजन्य ज्ञान का अर्थ है- अन्त:करणवृत्ति (अन्त:करण की तत्तत्पदार्थ के आकार के तुल्य होनेवाली स्थिति), न कि ज्ञानस्वरूप चैतन्य। चैतन्यरूप अनादि होने से अजन्य है और इन्द्रियजन्य ज्ञान तो उत्पत्तिविनाशशील होता है। अत: अन्त:करणवृत्ति को ही ज्ञान कहा गया है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जाग्रतावस्था में प्रत्यक्षरूप से इन्द्रिय व्यापार होता है जबकि स्वप्नावस्था में सभी इन्द्रियाँ अर्थात् करण शान्त हो जाते हैं और जाग्रतावस्था में किये गये या सोचे गये कर्मों के संस्कार उद्भूत होकर वासनारूप (संस्काररूप) हस्त, पैरादि करणों के विषय बनते हैं। इसी अवस्था को स्वप्नावस्था कहा गया है अर्थात् इस अवस्था में कर्ता, ज्ञाता, भोक्ता, भोग तथा भोग्य पदार्थ आदि सभी विषय संस्काररूप ही होते है। इस अवस्था को सूक्ष्मकर्मों का निमित्त (कारण) इसीलिये कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इन्द्रियों से अजन्य एवं विषयगोचर, अपरोक्ष अन्त:करणवृत्ति को स्वप्नावस्था कहते हैं।[2] सुषुप्ति अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के कर्मों का लय हो जाने से जाग्रत और स्वप्नावस्था का भी लय हो जाता है और दोनों अवस्थाओं के लय हो जाने के फलस्वरूप अन्त:करण का भी अपने कारण मायोपहित शबल ब्रह्म में लय हो

---

[1] " स च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयवान्। तत्र जाग्रद्दशानामेन्द्रियजन्यज्ञानावस्था। अवस्थान्तरे इन्द्रियाभावान्नातिव्याप्ति:। इन्द्रियजन्यज्ञानं चान्त:करणवृत्ति:। स्वरूपज्ञानस्यानादित्वात्" – वे.प., पृ. -३६१

[2] " इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्त:करणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था"- वहीं, पृ.-३७०

जाता है। जैसे- वट के एक बीज में सम्पूर्ण वटवृक्ष का समावेश पाया जाता है। इसी अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है। इस प्रकार इन जाग्रतादि अवस्थाओं को क्रम और अक्रम दोनों प्रकार से देखा जाता है। जैसे- कभी तीनों क्रमश: पायी जाती है परन्तु कभी जाग्रतावस्था के बाद सुषुप्ति अवस्था होती है तो कभी जाग्रत के बाद स्वप्नावस्था ही होती है, सुषुप्ति अवस्था नहीं हो पाती है। इस प्रकार अध्ययन काल में निश्चल अन्त:करण वाला मुमुक्षु यदि 'अध्यारोप-अपवाद' विधि को ध्यान में रखकर ब्रह्मज्ञान हेतु प्रवृत्त होता है, तब इस प्रकार के ज्ञान को धारण किये हुये शुद्ध अन्त:करण वाले मुमुक्षु के लिये शरीर द्वारा उत्पन्न सभी क्रियाओं, क्रियाफलों तथा विकृतियों का क्रम से लय हो जाता है और मात्र क्षेत्रज्ञ[1] (साक्षी चैतन्य या शुद्ध चैतन्य) ही शेष रह जाता है।

मूल ग्रन्थ (४)-

पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यो यदुत्पन्नमण्डादि तत्सर्वं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतव्यतिरेकेण नास्ति, यथा मृदुत्पन्नो घटो मृद्व्यतिरेकेण नास्ति, तत्कार्यत्वात् । एवं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतव्यतिरेकेण न सन्ति। इदानीं हिरण्यगर्भमात्रसूक्ष्मशरीरमात्रं परिशिष्टम्। तत्रापि सप्तदशकं लिंगमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतव्यतिरेकेण नास्ति, यथा मृदुत्पन्नो घटो मृद्व्यतिरेकेण नास्ति, तत्कार्यत्वात् । इदानीमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि परिशिष्टानि । तत्राप्यन्नशब्दवाच्या पृथिवी उदकव्यतिरेकेण नास्ति, उदकं तेजोव्यतिरेकेण, तेजो वायुव्यतिरेकेण, वायुराकाशव्यतिरेकेण, आकाश: तच्छब्दवाच्यमायाविब्रह्मव्यतिरेकेण, मायाव्यपि शुद्धब्रह्मव्यतिरेकेण नास्ति । इदानीमन्त:करणाभावात् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनामभावे जीवत्ववर्जितप्रत्यगात्मचैतन्यस्वभावो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दाद्वयस्वभावं ब्रह्म तत्त्वंपदार्थौ परिशिष्टौ। तत्र "ब्रह्मैवाहमस्मि" "अहमेव ब्रह्म" इति तत्परशुग्रहणपर्यन्तदाढर्योपेतो

[1] "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेति तं प्राहु: क्षेत्र इति तद्विद:"- १३/१,भ.गी., पृ.- १६५

यस्तत्त्वमसिवाक्यार्थ: करतलन्यस्तामलकवदनुभवपर्यन्तेन ज्ञानेन जानाति स मुच्यत एव,

"आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरम्" इति श्रुते: ॥

इति तत्त्वंपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

अनुवाद (४)-

पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों से उत्पन्न जो ब्रह्माण्डादि है, वह सब कुछ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं हैं । जैसे- मृतिका से उत्पन्न घट मृदा से अलग नहीं है, उसका (मृदा का) कार्य होने के कारण । इसी प्रकार पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है । अब मात्र हिरण्यगर्भ और सूक्ष्मशरीर शेष हैं। वह सप्तदशात्मक लिङ्ग भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है । जैसे- मृतिका से उत्पन्न घट मृदा से अलग नहीं है , उसका (मृदा का) कार्य होने के कारण । अब अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत शेष रहते हैं । वहाँ भी अन्न शब्द की वाच्य पृथिवी जल से अतिरिक्त नहीं है । जल तेज से अतिरिक्त, तेज वायु से अतिरिक्त, वायु आकाश से अतिरिक्त, आकाश तत् शब्द वाच्य मायोपहित ब्रह्म से अतिरिक्त और मायोपहित ब्रह्म भी शुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है । अब अन्त:करण का अभाव हो जाने पर अवस्थात्रय जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अभाव में जीवत्व से रहित चैतन्यस्वरूप प्रत्यगात्मा और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अद्वय स्वभाव ब्रह्म, ये तत्त्वं पदों के अर्थ शेष रह जाते हैं । तब "ब्रह्म ही मैं हूँ" या "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ तप्तपरशु को ग्रहण करने की दृढता प्राप्त होने तक, हाथ में रखे आँवले के समान अनुभव पर्यन्त, ज्ञान से जो जानता है, वह मुक्त होता ही है । "आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है । उसके लिये मोक्ष होने मे उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है" इस प्रकार श्रुति वचन भी है ।

विश्लेषण (४)-

अद्वैत-वेदान्त की समस्त सृष्टि- प्रलय प्रकिया का मूल यह 'अध्यारोप-अपवाद विधि' ही है । इस अध्यारोप और अपवाद की क्रमिक प्रक्रिया से ही गुरु अपने शिष्य को आत्मा का बोध

कराता है ।[1] अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् की सृष्टि वास्तविक नहीं है । जैसे सीपी में भ्रम के कारण रजत भासित होने लगती है अथवा रस्सी में सर्प दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार अद्वैत आत्मतत्त्व पर अज्ञान के कारण अनादिकाल से जगत् की भ्रमात्मक प्रतीति हो रही है । अध्यारोप को परिभाषित करते हुये कहते हैं कि- सर्पभाव को न प्राप्त होने वाली रस्सी पर सर्प के आरोप के समान, वस्तु पर अवस्तु का आरोप करना ही अध्यारोप है । वस्तु है- सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म और अज्ञान से प्रारम्भ होने वाले समस्त जड़ पदार्थों का समूह अवस्तु है ।[2] अत: ब्रह्म पर जगत् प्रपञ्च का आरोप ही अध्यारोप है । अब अपवाद को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि जिस प्रकार रज्जु का विवर्त (रज्जु में भ्रान्ति के कारण प्रतीत होने वाला) सर्प रज्जुमात्र ही होता है अर्थात् रज्जु से भिन्न नहीं होता है । उसी प्रकार ब्रह्मरूप वस्तु का विवर्त[3] (अर्थात् ब्रह्मरूप वस्तु में अज्ञान के कारण भासित होने वाला) जो अवस्तुभूत अज्ञानादि प्रपञ्च है, उसका वस्तुमात्र ही रह जाना अपवाद कहलाता है[4] अर्थात् जिस प्रकार दीपक का प्रकाश लाने पर रस्सी में प्रतीत होने वाले सर्प के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है और केवल आधारभूत रज्जु ही अवशिष्ट रह जाती है, उसी प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासन का दीर्घ काल तक निरन्तर अभ्यास करते-करते ज्ञान का उदय होने पर समस्त जागतिक सृष्टि के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है और सबका अधिष्ठानभूत सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है । दूसरे शब्दों में कहा जाये तो समस्त कार्यवर्ग का कारण में लय करके कारणमात्र की सत्ता का बचा रहना अपवाद है अथवा समस्त कार्यवर्ग की कारणस्वरूप से व्यतिरिक्त कोई भी सत्ता नहीं है, ऐसा

---

[1] "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते । शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञै: कल्पित: क्रम:"- वे.सा., पृ. -३७

[2] " असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोप: । वस्तु सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म ।
अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु" -वहीं, पृ.- ३७

[3] "असतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृत:"- वहीं, पृ.- ११५

[4] "अपवादो नाम रज्जुविवर्त्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्त्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादे: प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्"- वहीं, पृ. -११५

निश्चय करना ही अपवाद है ।[1] अपवाद को परिभाषित करते हुये कहा गया है कि- जिस प्रकार रज्जु का विवर्त (रज्जु में भ्रान्ति के कारण प्रतीत होने वाला) सर्प रज्जुमात्र ही होता है अर्थात् रज्जु से भिन्न नहीं होता है । उसी प्रकार ब्रह्मरूप वस्तु का विवर्त[2] (अर्थात् ब्रह्मरूप वस्तु में अज्ञान के कारण भासित होने वाला) जो अवस्तुभूत अज्ञानादि प्रपञ्च है, उसका वस्तुमात्र ही रह जाना अपवाद कहलाता है ।[3] अध्यारोप और अपवाद विधियाँ एक दूसरे के विपरीत हैं । जहाँ अध्यारोप द्वारा कारण से कार्य का विस्तार दिखलाया जाता है, वहीं अपवाद द्वारा कार्यों का कारण में लय दिखलाया जाता है । ग्रन्थकार अविद्याशबल ब्रह्म से आकाशादि विस्तीर्ण सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च को पूर्व में ही प्रस्तुत कर चुके हैं । अत: अब अपवाद विधि का प्रयोग करते हुये आकाशादि विस्तीर्ण सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च के कारण ब्रह्म में लय होने की प्रक्रिया को क्रमिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं ।

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न जो ब्रह्माण्डादि है, वह सब कुछ पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं हैं । जैसे- मृतिका से उत्पन्न घट मृदा से अलग नहीं है, मृदा का कार्य होने के कारण अर्थात् मृदा से निर्मित पदार्थ सभी पदार्थ घट, दीपक आदि दिखने में उपाधि भेद के कारण पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं, परन्तु तत्त्वत: तो वे सब मृदा रूप ही हैं क्योंकि ये सब मृदा के कार्य हैं और मृदा इनका कारण है । सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य, कारण की ही अभिव्यक्ति मात्र हैं, तत्त्वत: उनमें कोई भेद नहीं है । मृदा से पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है, अत: वे सब मृदारूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं । श्रुति भी इसी का समर्थन करती है कि- जिस प्रकार एक मृतिका के पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के

---

[1] " कार्यस्य कारणमात्रसत्तावशेषणं, कारणस्वरूपव्यतिरेकेण कार्यस्यासत्तावधारणं वापवाद:"- वे.सा.वि.म., पृ. -११६

[2] "असतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृत:"-वे.सा., पृ.- ११५

[3] "अपवादो नाम रज्जुविवर्त्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद् वस्तुविवर्त्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादे: प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्" – वहीं , पृ.- ११६

आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृतिका ही है ।[1] इसी प्रकार पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है। अब मात्र हिरण्यगर्भ और सूक्ष्मशरीर शेष हैं। वह सप्तदशात्मक लिङ्ग भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से अतिरिक्त नहीं है। जैसे- मृदा का कार्य होने के कारण मृतिका से उत्पन्न घट मृदा से अलग नहीं है। अब अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत शेष रहते हैं। वहाँ भी अन्न शब्द की वाच्य पृथिवी जल से अतिरिक्त नहीं है। जल तेज से अतिरिक्त, तेज वायु से अतिरिक्त, वायु आकाश से अतिरिक्त, आकाश तत् शब्द वाच्य मायोपहित ब्रह्म से अतिरिक्त और मायोपहित ब्रह्म भी शुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है । इस प्रकार अन्तत: कारण रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अवशेष रह जाता है, शेष सभी अवस्तुओं का इसी में लय हो जाता है।

अब अन्त:करण का अभाव हो जाने पर अवस्थात्रय जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अभाव में जीवत्व से रहित 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ चैतन्यस्वरूप प्रत्यगात्मा और 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अद्वय स्वभाव ब्रह्म, ये तत्त्वं पदों के अर्थ शेष रह जाते हैं । इस प्रकार अध्यारोप-अपवाद विधि को ध्यान में रख कर जो मुमुक्षु "तत्त्वमसि" इस महावाक्य का श्रवण, मनन और निदिध्यासन[2] पूर्वक ज्ञान प्राप्त करता है, तब उसे "ब्रह्म ही मैं हूँ" या "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का अनुभव होता है। तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ उसे इस तरह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है जैसे कि हाथ में रखा आँवला स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और इस प्रकार दृढतापूर्वक जो मुमुक्षु सत्य की प्राप्ति की अभिलाषा लिये हुये महावाक्यों का ज्ञान प्राप्त करता है, वह निश्चितरूप से मुक्त होता ही है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि सत्यवादी पुरुष तप्तपरशु को ग्रहण करने की दृढता प्राप्त किये रहता है अर्थात् छान्दोग्य में श्वेतकेतु को आत्मज्ञान का उपदेश देने के क्रम में एक कथा आती है कि राजकर्मचारी एक पुरुष को पकड़ कर लाते हैं क्योंकि उस पर चोरी का आरोप होता है। तब कहा जाता है कि इसके सत्यत्व की परीक्षा के लिये इसके हाथ को तप्त परशु से तपाओं। सत्यवादी होने पर हाथ नहीं जलेंगे और उसे छोड़ दिया जायेगा।

---

[1] "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" -६/१/४ , छा.उ., पृ.- ५२१

[2] " श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि: । मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शनहेतव:"— २/४/३०४, बृ.उ.भा.वा.

झूठा होने पर वह जल जायेगा और सजा प्राप्त करेगा। इसी प्रकार अविद्वान् का इस संसार में पुनरावर्तन होता रहता है, वह मुक्त नहीं होता जबकि विद्वान् का पुनरावर्तन नहीं होता । वह परममुक्ति को प्राप्त करता है ।[1] श्रुति वचन भी इसमें प्रमाण है कि आचार्यवान् पुरुष गुरु के उपदेश से सत् को जानता है । उसके लिये मोक्ष होने मे उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।[2] यही परममुक्ति की अवस्था कही गई है ।

\/ \/ \/
/\ /\ /\

[1] छा.उ.- ६/१६/१-३, पृ.- ६४१-६४४

[2] "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये" - ६/१४/२, छा.उ., पृ. -६२९

॥ पञ्चम अध्याय ॥

[अवान्तरवाक्यार्थव्याख्यानम्]

अवान्तर वाक्यों का निरूपण

मंगलाचरण-

सत्यानन्दादिरुपाय सर्वलोकैकसाक्षिणे ।

नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे भेदभेदिन्ने ॥

अन्वय - सत्यानन्दादिरुपाय वेदान्तवेद्याय भेदभेदिन्ने सर्वलोकैकसाक्षिणे गुरवे नमो ।

अनुवाद -

सत्य, आनन्द, अनन्त, अद्वयादि स्वरूप वाले, वेदान्त के द्वारा ही जानने योग्य, सभी प्रकार के भेदों का भेदन करने वाले, सभी लोकों के एक मात्र साक्षी गुरु को प्रणाम करते हैं ।

मूल ग्रन्थ (१)-

अथातोऽवान्तरवाक्यार्थं व्याख्यास्याम:, विधिवदुपसन्नाय नित्यानित्यवस्तु-विवेकादिसाधनचतुष्टयसंपन्नाय ब्राह्मणाय श्रवणमननिदिध्यासनादिविधिप्रेरिताय यतये मुख्याधिकारिणे, अन्येषां श्रवणादिविधिप्रेरणमन्तरेण प्रतिषेधाभावमात्रेण अधिकारि-त्वादेवामुख्यत्वात् ॥

अनुवाद (१)-

विधिपूर्वक गुरु के पास उपस्थित हुये, नित्य-अनित्य वस्तु विवेकादि साधन चतुष्टय से सम्पन्न, तत्त्वान्वेशी, श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि विधि वाक्यों से प्रेरित हुये, मुख्य अधिकारी ब्रह्मचारी के लिये तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि विधि वाक्यों से प्रेरित हुये बिना प्रतिषेध के अभाव मात्र से अमुख्य अधिकारियों के लिये, महावाक्यार्थ की व्याख्या करने के अनन्तर, महावाक्यों के स्पष्ट और विशिष्ट ज्ञान के लिये अवान्तर-वाक्यों के अर्थ की व्याख्या करता हूँ ।

विश्लेषण (१)-

ग्रन्थकार ने इससे पूर्व के अध्यायों में महावाक्यार्थ का व्याख्यान किया है । अब महावाक्यों का अर्थ निर्धारित करने के अनन्तर, महावाक्यों के स्पष्ट और विशेष अर्थ बोध के लिये अवान्तर वाक्यों के अर्थ की व्याख्या कर रहे हैं । विधिवत् गुरु के पास गया हुआ अर्थात् यह श्रुति परम्परा है कि राजा या गुरु के पास कभी खाली हाथ नहीं जाना चाहिए।[1] यदि निर्धनता के कारण कुछ भी उपहार देने की स्थिति में न हो तो हवन में उपयोगी समिधायें लेकर ही गुरु के सामने उपस्थित होना चाहिये । यदि सामर्थ्य हो तो यथाशक्ति फल-फूल, वस्त्राभूषण, स्वर्ण-रत्नादि भेंट करना चाहिये । श्रुति भी इसी बात का समर्थन करती है कि- 'आत्मज्ञान को प्राप्त करने के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये।'[2] इस प्रकार विधिवद् गुरु के पास गया हुआ शिष्य वेदान्त विद्या प्राप्त करने का अधिकारित्व प्राप्त कर चुका हो अर्थात् अद्वैतवेदान्त में अधिकारी वह बताया गया है, जो कि ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने की योग्यता से पूर्ण हो । जिसने इस जन्म में अथवा अन्य जन्मों में वेदों और वेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदान्त के अर्थ को सामान्य रूप से समझ लिया हो तथा काम्य और निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना कर्मों का अनुष्ठान करने से, समस्त कल्मषों के दूर हो जाने के कारण, जिसका अन्त:करण अत्यन्त निर्मल हो गया हो और जो साधनचतुष्टय (नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहलौकिक व पारलौकिक फल विराग, शमादिषट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न हो, ऐसा प्रमाता पुरुष इस ब्रह्म विद्या

[1] 'रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं देवतां गुरूम्'- वि.च., ११५

[2] " समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" -१/२/१२ , मु.उ., पृ- ९८

का अधिकारी होता है- ऐसा कहा गया है।[1] यह साधनचतुष्टय सम्पन्न तत्त्वान्वेषी अधिकारी तत्त्वज्ञान के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उपदेश करने वाले विधि वाक्यों[2] से प्रेरित होता है, इस प्रकार के संन्यासी और मुख्य अधिकारी तथा जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उपदेश करने वाले विधि वाक्यों से प्रेरित हुये बिना ही निषिद्ध कर्मों को न करने से अमुख्य अधिकारी है, ऐसे दोनों मुख्य और अमुख्य अधिकारियों के लिये ग्रन्थकार अवान्तर वाक्यों का व्याख्यान करते हैं।

मूल ग्रन्थ (२)-

तत्रावान्तरवाक्यार्थस्तावद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणमहावाक्यार्थान्वयितत्त्वंपदार्थद्वयमेव ।तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिनावान्तरवाक्येन साक्षाद् ब्रह्मपदार्थो निरूप्यते । अनृतजडपरिछिन्नदु:खविरुद्धं वस्तु सत्यज्ञानानन्तादिशब्दै: ब्रह्मशब्दार्थत्वेन निवेद्यते , "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ," आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति च । तथा हि- सत्यत्वात् नानृतं ब्रह्म, ज्ञानत्वात् न जडम्, अनन्तत्वात् न परिछिन्नम्, भेदाभावत्रयाभ्यां विरुद्धमित्यर्थ: । तथा आनन्दत्वात् निर्दु:खमिति च निवेद्यते । तस्यैव ब्रह्मण: तथानिवेद्यमानस्य आनन्त्योपपादनाय पञ्चविधानि युक्त्यर्थवादवाक्यानि विधिप्रतिषेधचोदनार्थ-शेषभूतस्तुतिनिन्दार्थवादवाक्यवत् सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशनियमनवादीनि । तत्र " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति।" इति सृष्टिस्थितिप्रलयवाक्यानि । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति प्रवेशवाक्यम् ।

---

[1] " अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्ध-वर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्त: साधनचतुष्टयसम्पन्न: प्रमाता" ॥५॥ वे.सा., पृ०-११

[2] "आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्य: निधिध्यासितव्य" -२/४/५, बृ.उ., पृ०- २०४

"भीषास्माद्वात: पवते । भीषोदेति सूर्य:" इत्यादिनियमनवाक्यम् । एतै: पञ्चविधै: सम्भावनार्थवादवाक्यै: तज्जत्वात् तल्लत्वात् तदनत्वात् तत्प्रविष्टत्वात् तन्नियतत्वाच्च तत्तावन्मात्रं जगदिति युक्त्युपबृहितै: ब्रह्मण आनन्त्याद्युपपादने कृते ब्रह्मपदार्थो निश्चितो भवति। ब्रह्मपदार्थगता ज्ञानविपर्यासा विनष्टा भवन्तीति ब्रह्मपदार्थनिरूपणपरावान्तर-वाक्यार्थव्याख्यानम् ॥

अनुवाद (२)-

ब्रह्मात्मैकत्व लक्षण रूप महावाक्यार्थों से सम्बद्ध तत् और त्वम् पदों का अर्थ बताने वाले वाक्य ही अवान्तर वाक्य हैं । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इन दो अवान्तर वाक्यों से साक्षात् रूप से ब्रह्म पदार्थ निरूपित होता है । अनृत, जड़, परिछिन्न तथा दु:खविरूद्ध वस्तु को सत्य, ज्ञान, अनन्तादि शब्दों से, ब्रह्म शब्द के अर्थ के द्वारा बताया जाता है। इस प्रकार "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" और "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" यह अवान्तर वाक्य हैं। सत्य होने से ब्रह्म अनृत नहीं है, ज्ञान होने से जड़ नहीं है, अनन्त होने से परिछिन्न नहीं है अर्थात् तीनों भेदों से रहित है तथा आनन्दरूप होने से दु:खरहित कहा गया है । उस इस प्रकार बताये गये ब्रह्म की अनन्तता के प्रतिपादन के लिये चोदनार्थ विधि, प्रतिषेध और शेषभूत स्तुति, निन्दा, अर्थवाद वाक्यों की तरह सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश और नियमन- ये पाँच प्रकार के युक्ति और अर्थवाद वाक्य हैं । "जिससे यह सम्पूर्ण प्राणी वर्ग उत्पन्न होता है", "जिसमें सभी प्राणी जीवित रहते हैं" और "जिसमें लय को प्राप्त हो जाते हैं", उसकी उपासना करो, वही ब्रह्म है । इस प्रकार ये क्रमश: सृष्टि, स्थिति और प्रलयपरक वाक्य हैं । "उसकी रचना कर उसी में प्रवेश किया"- यह प्रवेश वाक्य है । "जिसके भय से वायु बहती है, इसके भय से सूर्य उदय होता है" – यह नियमन वाक्य है । इन पाँच प्रकार के सम्भावना और अर्थवाद वाक्यों से, उससे उत्पन्न होने, उसमें लीन होने, उसमें स्थित होने, उसके प्रविष्ट होने और उसके नियन्ता होने से वह उतना मात्र ही जगत् है, इस प्रकार युक्ति से सिद्ध ब्रह्म की अनन्तता को सिद्ध करने के लिये ब्रह्म

पद का अर्थ निश्चित होता है। ब्रह्म पद के अर्थ को जाने हुये साधक का अज्ञान नष्ट हो जाता है, इस प्रकार ब्रह्म पद के अर्थ के निरूपण में तत्पर अवान्तर वाक्यों के अर्थ का व्याख्यान किया गया है।

विश्लेषण (२)-

ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के प्रतिपादक महावाक्यों के तत् और त्वम्, अहं और ब्रह्म पदों के अर्थ को स्पष्ट रूप से बताने वाले उपनिषद् के वाक्यों को अवान्तर वाक्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो अवान्तर वाक्य महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण में सहायक होते हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[1], "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"[2] - ये दो अवान्तर वाक्य साक्षात् रूप से ब्रह्म पद के अर्थ को निरूपित करते हैं और ब्रह्म के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं अर्थात् ये अवान्तर वाक्य स्पष्ट रूप से यह बताते हैं कि ब्रह्म सत्य स्वरूप, ज्ञान स्वरूप , अनन्त स्वरूप और आनन्द स्वरूप है। अनृत, जड़, परिछिन्न तथा दु:ख विरूद्ध वस्तु का अवान्तर वाक्यों में सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द शब्दों के द्वारा ब्रह्म शब्द के अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[3] और "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"[4] यह अवान्तर वाक्य कहे गये हैं।

सत्य होने से ब्रह्म अनृत नहीं है अर्थात् मिथ्या नहीं है। सत् वही हो सकता है, जो अनृत नहीं हो और न शून्य हो। जो पदार्थ जिस रूप से निश्चिय किया गया है, उससे व्यभिचरित न होने के कारण सत्य कहलाता है।[5] ब्रह्म भी यदि अनृत या शून्य हो तो जगत् की सृष्टि निराधार होगी। अत: ब्रह्म अनृत या शून्य नहीं हो सकता। ज्ञान स्वरूप होने से ब्रह्म जड़ नहीं है क्योंकि ज्ञान चेतन में ही होता है, जड़ में नहीं।[6] ब्रह्म को 'चित्' कहा गया है। चित् का अर्थ है- ज्ञान[1],

---

[1] तै० उ०, २/१/१
[2] तै० उ०, ३/६
[3] तै० उ०, २/१/१
[4] तै० उ०, ३/६
[5] " यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्"- २/१/१, तै.उ. शा.भा., पृ०- ४७८
[6] शां. वे. अर्थ. सि. अ., पृ०- १९८

चैतन्यस्वरूप या ज्ञप्तिस्वरूप । चैतन्य ब्रह्म का गुण नहीं है, प्रत्युत उसका स्वरूप ही है क्योंकि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस अवान्तर वाक्य में ज्ञान और ब्रह्म का समानाधिकरण्य है और ब्रह्म की निर्धर्मकता (सर्वगुणराहित्य) का श्रुतियों में सर्वत्र प्रतिपादन किया गया है ।[2] अनन्त होने से ब्रह्म सीमित नहीं है अर्थात् तीनों भेदों से रहित है । ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य कहा गया है । जिस प्रकार वृक्ष का, पत्र पुष्प फलादि के द्वारा स्वगत भेद होता है, दूसरे वृक्ष से सजातीय भेद होता है और शिला इत्यादि से विजातीय भेद होता है, उसी प्रकार कहकर 'एकम्' से ऐक्य, 'एव' से अवधारणा तथा 'अद्वितीयम्' से द्वैत निषेध के द्वारा इस भेदत्रैविध्य का निराकरण करती है ।[3] सद् वस्तु के अवयवों का श्रुति में कहीं भी वर्णन नहीं हुआ है क्योंकि सावयव होने पर अन्य सावयव पदार्थों के समान ब्रह्म अनित्य, सीमित और सविकार सिद्ध होगा । इसलिये निरवयव होने के कारण उसमें स्वगत भेद नहीं है । सत् के समान कोई अन्य सत् है ही नहीं । अत: सद् में सजातीय भेद भी नहीं हो सकता । सद् का विजातीय असत् ही हो सकता है और असत् का अर्थ है- सत्ताहीन । जिसकी सत्ता ही नहीं है, उससे भेद कैसा ? अत: विजातीय भेद भी नहीं बन सकता । टीकाकार रामतीर्थ ने 'अखण्ड' शब्द को 'अनन्त' का पर्याय माना है, जिसका अर्थ है- 'अविद्याकल्पित देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित।' विद्यारण्य कहते हैं कि व्यापक होने के कारण ब्रह्म में देशगत परिच्छेद नहीं है, नित्य होने के कारण कालगत परिच्छेद नहीं है और सबका आत्मा होने से वस्तुगत परिच्छेद भी नहीं है । इस प्रकार ब्रह्म में तीनों प्रकार का आनन्त्य है ।[4] ब्रह्म के आनन्दरूप होने से, वह दु:ख रूप हो नहीं सकता अत: उसे दु:खरहित कहा गया है । इस प्रकार ऊपर बताये गये ब्रह्म की अनन्तता के प्रतिपादन के लिये प्रेरणार्थक विधि, प्रतिषेध और शेषभूत स्तुति, निन्दा, अर्थवाद वाक्यों की

---

[1] "ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोध:"- २/१/१, तै.उ. शा.भा., पृ०- ४७८

[2]"अस्तूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन" ।- ३/८/८,बृ.उ., पृ०- ६७५

[3] " वृक्षस्य स्वगतो भेद: पत्रपुष्पफलादिभि: । वृक्षान्तरात् सजातीयो विजातीय: शिलादित:" ।।, "तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते, ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभि: क्रमात्" ॥-२/२०,२१,प.द., पृ०- ८९

[4] "न व्यापित्वाद् देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालत: । न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा" ॥-३/३५, प.द., पृ०- १२३

तरह सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश और नियमन- ये पाँच प्रकार के युक्ति और अर्थवाद वाक्य कहे गये हैं।

सृष्टिपरक अवान्तर वाक्य (२.१)-

तैत्तिरीयोपनिषद् में पठित ' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'[1] अर्थात् जिससे यह सम्पूर्ण प्राणी वर्ग उत्पन्न होता है। इस श्रुति वाक्य में ब्रह्मतत्त्व में स्थावर-जंगम जगत् की सृष्टि कही गई है। इससे सृष्टि रूप कार्य के प्रति ब्रह्म की उपादान कारणता सिद्ध होती है। जिस प्रकार मृत्तिका से निर्मित घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं है और मृत्तिका उन सब के प्रति उपादानकारण भी है, उसी प्रकार यह सृष्टि ब्रह्म रूप एक तत्त्व से बनी है और उसी ब्रह्म की सृष्टि रूप कार्य के प्रति उपादान-कारणता भी है।[2]

स्थितिपरक अवान्तर वाक्य (२.२)-

तैत्तिरीयोपनिषद् में पठित 'येन जातानि जीवन्ति'[3] अर्थात् उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते हैं। इस श्रुतिवाक्य से ब्रह्म की स्थितिप्रदायकता सिद्ध होती है। ब्रह्म समस्त कार्यभूत जगत् का अधिष्ठान है- यह इस अवान्तर वाक्य से सिद्ध होता है।[4]

लयपरक अवान्तर वाक्य (२.३)-

तैत्तिरीयोपनिषद् में पठित 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'[5] अर्थात् समस्त कार्य जगत् विनाशोन्मुख होकर, जिसमें लीन होता है। इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म की लय कारणता सिद्ध होती है। जिस प्रकार घट रूप कार्य अपने मृत्तिका रूप कारण में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त कार्यभूत जगत् स्थिति के अनन्तर अपने कारण ब्रह्म में लय को प्राप्त हो जाता है।[1]

---

[1] तै.उ.३/१/१

[2] शां. वे. अर्थ. सि. अ., पृ०- २०१

[3] तै.उ.३/१/१

[4] शां. वे. अर्थ. सि. अ., पृ०- २०१

[5] तै.उ.३/१/१

प्रवेशपरक अवान्तर वाक्य (२.४)-

तैत्तिरीयोपनिषद् में पठित 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'[2] अर्थात् वह उसकी रचना कर उसी में प्रविष्ट हो गया। वह ब्रह्म तत्त्व एक और सर्वव्यापक है। अत: उसी से उद्भूत मायिक कार्य जगत् में वह प्रविष्ट हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। भेद की दृष्टि से कार्य जगत् ब्रह्म से भिन्न है, परन्तु अभेद की दृष्टि से सर्वव्यापक होने से ब्रह्म के अतिरिक्त उसकी सत्ता नहीं है। परिवर्तनशील सीमित कार्य जगत् और अपरिवर्तनशील असीमित ब्रह्म की एक साथ व्याख्या करने के लिये ईशावास्योपनिषद् में पठित श्रुति वाक्य भी प्रमाण है अर्थात् 'वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता है। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्दर है और वही सबके बाहर भी है[3], इस प्रकार अव्याख्येय ब्रह्म की प्रवेशपरकता ही दिखायी गयी है।

नियमनपरक वाक्य (२.५)-

तैत्तिरीयोपनिषद् में पठित 'भीषास्माद्वात: पवते। भीषोदेति सूर्य:'[4] अर्थात् जिसके भय से वायु बहती है, जिसके भय से सूर्य उदय होता है– यह नियमन वाक्य है। ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियामक है। वह अपने नियमन रूप कार्य के लिये वायु आदि देवगणों को भी कार्य पर लगाता है। यदि वे देवगण कार्य को समुचित रूप से नहीं करते हैं, तब उनको नियमन रूप भय दिखाया जाता है।[5] जिस प्रकार राजा के मन्त्री अपने-अपने कार्य के प्रति उत्तरदायी होते हैं, उसी प्रकार देवगण भी ब्रह्म रूप राजा के निर्देशन में अपना-अपना कार्य करते हैं। वायु आदि देवगण समर्थ होने पर भी अत्यन्त श्रम साध्य चलने आदि के कार्य में नियमानुसार प्रवृत्त हो रहे हैं, यह बात उनका कोई शासक होने पर ही सम्भव है, क्योंकि उनकी नियम से प्रवृत्ति होती है। इसीलिये उनके भय का कारण और उन पर शासन करने वाला ब्रह्म ही है। जिस प्रकार राजा के भय से सेवक अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं, उसी प्रकार वे इस ब्रह्म के भय से प्रवृत्त होते हैं।

---

[1] शां. वे. अर्थ. सि. अ., पृ०- २०२

[2] तै.उ.,२/६/१

[3] "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:"- ५,ई.उ.,पृ०-९

[4] तै.उ.,२/८/१

[5] शां. वे. अर्थ. सि. अ., पृ०- २०३

उनके भय का कारण वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म है ।[1]

इन पाँच प्रकार के सम्भावना और अर्थवाद वाक्यों से तेजस्, अप् और अन्नादि के क्रम से सारा जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसीलिये तज्ज है । उत्पत्ति क्रम के विपरीत क्रम से उस ब्रह्म में लीन होता है अर्थात् तादात्म्य रूप से उसमें मिल जाता है इसीलिये तल्ल है । अपनी स्थिति के समय उसी में अनन या प्राणन यानि चेष्टा करता है इसलिये तदन है ।[2] इन युक्तियों से जहाँ एक ओर ब्रह्म की अनन्तता की सिद्धि होती है, वही दूसरी ओर ब्रह्म पद का अर्थ भी निश्चित होता है ।

ऊपर कहे गये अवान्तर वाक्यों में "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"[3], "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"[4] ये दोनों ब्रह्म के स्वरूप लक्षणात्मक वाक्य हैं जबकि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते","येन जातानि जीवन्ति", "यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"[5], "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"[6], "भीषास्माद्वात: पवते । भीषोदेति सूर्य:[7]" ये पाँचों अवान्तर वाक्य ब्रह्म के तटस्थ-लक्षणात्मक वाक्य हैं अर्थात् अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म पद का अर्थ अर्थात् उसका स्वरूप का वर्णन दो दृष्टियों से किया जाता है– स्वरूप-लक्षण की दृष्टि से और तटस्थ लक्षण की दृष्टि से । लक्षण से तात्पर्य है– लक्ष्य पदार्थ में विद्यमान असाधारण धर्म ।[8]

स्वरूप लक्षण (२.६)-

स्वरूप को ही स्वरूप लक्षण कहते हैं । जैसे- सत्यादि ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है । 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है', 'आनन्द ही ब्रह्म है', ऐसा उसने जाना' ये श्रुतियाँ उसमें प्रमाण है । अर्थात् लौहित्य, उष्णता और प्रकाश दीपक का स्वरूप है । वैसे ही श्रुति प्रतिपादित सत्, चित्

---

[1] "वातादयो हि महार्हा: स्वयमीश्वरा: सन्त: पवनादिकार्येष्वायासबहुलेषु नियता: प्रवर्तन्ते । तद्युक्तं प्रशास्तरि सति, यस्मान्नियमेन तेषां प्रवर्तनम् । तस्मादस्ति भयकारणं तेषां प्रशास्तृ ब्रह्म । यतस्ते भृत्या इव राज्ञोऽस्माद् ब्रह्मणो भयेन प्रवर्तन्ते । तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म"-२/८/१, तै.उ.शा.भा., पृ०- ६७९

[2] " तस्माद् ब्रह्मणो जातं तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वम् अतस्तज्जम्, तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम् तथा तस्मिन्नेव स्थितिकालेऽनिति प्राणिति चेष्टत इति ।-
३/१४/१,छा.उ.शां.भा.,पृ०- १३८

[3] छा.उ.,२/१/१

[4] छा.उ.,२/३

[5] तै.उ.,३/१/१

[6] तै.उ.,२/६/१

[7] तै.उ.,२/८/१

[8] "असाधारणधर्मो लक्षणम्"—वे.प., पृ०-३२८

और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है ।[1] दूसरे शब्दों में कहा जाये तो स्वरूप लक्षण उसे कहते हैं, जो वस्तु का स्वरूप होने के साथ-साथ दूसरों का व्यावर्तन भी करता हो, जैसे- पृथिवीत्व । यह पृथिवी का स्वरूप भी है और जलादि से उसका व्यावर्तन भी करता है । इस प्रकार ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है – सच्चिदानन्द । जो ब्रह्म को जगत् के सभी पदार्थों से व्यावर्तित भी करता है ।

तटस्थ लक्षण (२.७)-

जब तक लक्ष्य स्थिर रहे, तब तक उसमें न रहकर (कुछ समय तक ही लक्ष्य में रहकर) अन्य पदार्थों से लक्ष्य को भिन्न करने वाले लक्षण को तटस्थ लक्षण कहते हैं । जैसे- पृथिवी का तटस्थ-लक्षण गन्ध है क्योंकि वह महाप्रलय के समय पृथिवी परमाणुओं में नहीं रहता और न प्रथम उत्पत्ति क्षण में रहता है- ऐसा नैयायिक मानते हैं । 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षणभर निर्गुण रहता है, यह उनका सिद्धान्त है तथापि गन्धगुण के कारण पृथ्वी, जलादि अन्य द्रव्यों से भिन्न है– ऐसा ज्ञान होता है । इसीलिये गन्ध में तटस्थ लक्षण का समन्वय हो जाता है । ऐसे ही प्रकृत ब्रह्म में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयादि हेतुत्व भी सृष्ट्युत्पत्त्यादि काल में ही रहता है । प्रलय के पश्चात जगत् के ही न होने से उसका कारणत्व भी उसमें नहीं रहता तथापि जगत् का कारणत्व ब्रह्मव्यतिरिक्त अन्य पदार्थों में सम्भव न होने से, वह ब्रह्म को अन्यों से व्यावृत्त (भिन्न) करता है । इसीलिये जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है ।[2] इस प्रकार स्पष्ट रूप से ब्रह्म पद के साक्षात् अर्थ को जाने हुये साधक का ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसीलिये ब्रह्म पद के अर्थ के निरूपण में तत्पर अवान्तर वाक्यों के अर्थ का व्याख्यान किया गया है ।

मूल ग्रन्थ (३)-

तथा [अथ] त्वंपदार्थनिरूपणपरावान्तरवाक्यार्थमपि दर्शयिष्याम: । अन्नमयप्राणमय-मनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्यसोपाधिकात्मलक्षणकोशपञ्चकोषन्यासो निरुपाध्यात्मस्वरूप-निरूपणार्थम्, मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत् पूर्वेणात्मना समानस्योत्तरात्मनोऽत्र

---

[1] तत्र लक्षणं द्विविधम्- स्वरूप लक्षणं तटस्थ लक्षणं चेति । तत्र स्वरूपमेव लक्षणं स्वरूप लक्षणम्, यथा सत्यादिकं ब्रह्मस्वरूपलक्षणम् । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"— २/१/१,तै. उ. और " आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"- ३/६, तै० उ०, इति श्रुते: ।- वे.प., पृ०-३२८

[2] "तटस्थ लक्षणं तु यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वे सति यद् व्यावर्तकं तदेव यथा गन्धवत्त्वं पृथ्वीलक्षणम् । महाप्रलये परमाणुषु उत्पत्तिकाले घटादिषु गन्धाभावात् । प्रकृते ब्रह्मणि च जगज्जन्मादिकारणत्वम्" ।- वे.प., पृ०-३२८

कथ्यमानत्वात्, अन्यथा तदनुपयोगात् इत्थं च उपयोगात्, न हि अमुख्यमर्थमनुपन्यस्य मुख्यस्यार्थस्य सौकर्येण प्रतिपादनं सम्भवति, अरुन्धतीकथनवत्, न हि स्थूलां तारकाम-मुख्यामरुन्धतीमनक्त्वा तत्समीपवर्तिनी सूक्ष्मा मुख्यारुन्धती सौकर्येण निर्देष्टुं शक्यते, तद्वत् कोशपञ्चकमनुक्त्वा न मुख्य आत्मा वक्तुं शक्यत इति निरुपाध्या [पाधिका] त्मस्वरूपकथनार्थमेव सोपाधिकानां कोशात्मनां कथनम्, मुञ्जेषीकान्यायेन कोशपञ्चकादात्मनिष्कर्षोपपत्ते: । तथा च श्रुत्यन्तरम् –

"अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्ट: ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥"

इति । तस्मात्कोशपञ्चकाद्विलक्षण: प्रत्यगात्मा सर्वशरीरेष्वेको महावाक्यार्थान्वयी त्वंपदार्थ इति श्रुतौ कोशपञ्चकोपन्यासस्य तात्पर्यम् । तथा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिविलक्षणो जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिसम्बन्धरहितोऽध्यात्माधिभूताधिदैवशरीरस्थ एकस्त्वंपदार्थ:, अवस्थात्रयस्यव्यभि-चारित्वात्, आत्मनश्चावस्थात्रयानुयायिनोऽव्यभिचारित्वात्, च्यभिचारिणां च सर्पदण्ड-धाराभूच्छिद्रबलीवर्दमूत्रितत्वादिवन्मिथ्यात्वात्, अव्यभिचारिणश्चात्मनो रज्ज्विदमंशवत् सत्यत्वादिति । तस्य "त्रय आवसथा: त्रय: स्वप्ना:" इत्यादिश्रुतौ अवस्थात्रयस्योपन्यासस्य तात्पर्यं स्वार्थे पुरुषार्थाभावात्, ब्रह्मात्मैकत्वज्ञाने च "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति पुरुषार्थश्रवणात्, "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्यायात् ।

अनुवाद (३)-

उसके बाद (अहं पदार्थ निरूपक अवान्तर वाक्यार्थ निरूपण के बाद) त्वं पदार्थ के निरूपण में तत्पर अवान्तर वाक्यों के अर्थ को भी प्रस्तुत करूँगा । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नाम वाले आत्मा के लक्षण को बताने वाले सोपाधिक कोश, पञ्चकोशों में रखी हुई निरुपाधिक आत्मा के स्वरूप को बताने के लिये, साँचे में रखे हुए पिघले हुये ताँबे की प्रतिमा की तरह, उत्तर की आत्मा का पूर्व की आत्मा से समानता बतलाने से,

अन्यथा उन कोशों के अनुपयोगी होने से, इस प्रकार उपयोगी होने से, अरुन्धतीकथन के समान अमुख्य अर्थ को जाने बिना मुख्य अर्थ का सरलता से प्रतिपादन सम्भव नहीं होता । न ही स्थूल तारों में अमुख्य अरुन्धती को जाने बिना उसके समीपवर्ती सूक्ष्म मुख्य अरुन्धती को सरलता से देखा जा सकता है । उसी प्रकार पञ्चकोशों को जाने बिना मुख्य आत्मा को भी नहीं जाना जा सकता है । इस प्रकार निरुपाधिक आत्मा के स्वरूप को कहने के लिये ही आत्मा के सोपाधिक पञ्चकोशों को कहा गया है । मुञ्जेषीकान्याय से पञ्चकोशों से आत्मा रूपी निष्कर्ष की प्राप्ति होती है । श्रुतिकथन भी है कि- अङ्गुष्ठमात्र, सदा ही जीवों के हृदय में निवास करने वाला, अन्तरात्मा पुरुष है । मुञ्ज की ईशिका को धैर्यपूर्वक निकालने के समान ही, उस आत्मा को भी धैर्यपूर्वक अपने शरीर से अलग करके समझ लेना चाहिये ।

महावाक्यार्थ से सम्बद्ध त्वं पद का अर्थ वह पञ्चकोशों से विलक्षण प्रत्यगात्मा सम्पूर्ण शरीर में एक ही है, इस प्रकार यह श्रुति के पञ्चकोश वर्णन का तात्पर्य है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से भिन्न और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से सम्बन्ध रहित आध्यात्मिक, आधिभौतिकादि देवों के शरीर में विद्यमान एक ही तत्व त्वं पद का अर्थ है । अवस्था त्रय के व्यभिचारी (परिवर्तनशील) होने से और अवस्था त्रय का अनुसरण करने वाली आत्मा के अव्यभिचारी (अपरिवर्तनशील) होने से, व्यभिचारियों (अवस्थात्रय) के सर्प, दण्ड, धारा, भूमिछिद्र, पशु की मुत्र धारा आदि के समान मिथ्या होने से और अव्यभिचारी आत्मा के रज्जु के इदम् अंश के समान सत्य होने से । उसकी तीन आवसथायें और तीन स्वप्न हैं । इस प्रकार श्रुति में अवस्थात्रय-वर्णन का तात्पर्य स्वार्थ में पुरुषार्थ का अभाव दिखलाना है । ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान की दशा में " ब्रह्म को जानने वाला, परम मुक्ति को प्राप्त करता है"- इस प्रकार पुरुषार्थ का श्रवण होने से "फलयुक्त कर्म की सन्निधि में अफल उसका अंग होता है"- इस न्याय से अवस्थात्रय श्रुति, ब्रह्मवित् श्रुति का अंग हो जाती है।

विश्लेषण (३)-

'तत्' पद (ब्रह्म) के निरूपण में तत्पर अवान्तर वाक्यों की व्याख्या करने के बाद ग्रन्थकार 'त्वम्' पद (आत्मा) के निरूपण में तत्पर अवान्तर वाक्यों की व्याख्या करते हैं । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय – ये आत्मा को बताने वाले सोपाधिक कोश, इन पञ्चकोशों में विद्यमान निरुपाधिक आत्मा के स्वरूप को बताने के लिये वर्णित किये गये हैं ।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में आत्मा के इन पाँचों सोपाधिक कोशों का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिस प्रकार साँचे में ढाले गये द्रवीभूत ताँबा साँचे के आकार को धारण कर लेता है, उसी प्रकार चैतन्य भी अन्नमयादि कोशों के आकार को धारण कर लेता है। जिस प्रकार द्रवीभूत ताँबा और साँचे के आकार में निश्चित रूप से भेद है, उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों से आत्मा का भेद है। इस भेद को सामान्यजन नहीं समझते जबकि विवेकी आत्मज्ञानी जन समझ जाते हैं । अन्नमयकोश में प्राणमयकोश, प्राणमयकोश में मनोमयकोश, मनोमयकोश में विज्ञानमयकोश, विज्ञानमयकोश में आनन्दमयकोश और आनन्दमयकोश में चैतन्य का अवच्छिन्नरूप रहता है । इस प्रकार कहने की उपयोगिता यह है कि अन्नमयकोशादि अपने-अपने पूर्ववर्ती कोशों से व्याप्त होकर रहता हुआ उत्तरवर्ती कोशों को व्याप्त करके स्थित रहता है[1] अर्थात् एक ही आकाश जिस प्रकार घट को, अलमीरा को, पात्रों को तथा समस्त कक्ष को भी व्याप्त करके रहता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा उत्तरोत्तर सभी पाँच कोशों को व्याप्त किये हुये रहती है। जो आत्मा पूर्व के कोश में है, वहीं आत्मा उत्तर के कोश को भी व्याप्त करती है। पाँचों कोशों में एक ही आत्मा विद्यमान है, यही बताना पञ्चकोशों का औचित्य है । अमुख्य अर्थ के कथन के बिना मुख्य अर्थ का सरलता से प्रतिपादन करना सम्भव नहीं होता । जैसे- अमुख्य स्थूल तारे को दिखाये बिना उसके समीपवर्ती सूक्ष्म तारे को दिखलाना सम्भव नहीं होता। स्थूल अरुन्धती तारे को दिखलाते-दिखलाते सूक्ष्म मुख्य अरुन्धती तारा अपने आप दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी प्रकार पञ्चकोशों के कथन के बिना मुख्य आत्मा का कथन सम्भव नहीं है । निरुपाधिकात्मा को बताने के लिये सोपाधिक कोशों का कथन होता है। मुञ्जेषीका न्याय स्थूल का निषेध करके सूक्ष्म को ग्रहण करने में प्रयुक्त होता है। सिरकी के ऊपर मूँज के कई परत होते हैं। इसीलिये सिरकी निकालने के लिये सबसे पहले ऊपर की परत को सावधानी से हटाया जाता है। उसके बाद क्रमश: एक-एक कर नीचे की परतें भी हटा दी जाती हैं, अन्त में सिरकी निकल आती है। उसी प्रकार आत्म वस्तु के ऊपर अनात्म कोशों के कई आवरण चढ़े हुये हैं। उन आवरणों को बिना दूर किये हुये आत्मा का दर्शन कठिन है। विद्यारण्य कहते हैं कि जिस प्रकार मुञ्ज से सिरकी युक्तिपूर्वक निकाल ली जाती है, उसी प्रकार धीर पुरुषों के द्वारा शरीरत्रय से

[1] (क) मूषानिषिक्तद्रुतताम्रादिप्रतिमावत्ततोऽन्तरं ततोऽन्तरमित्येवं पूर्वेण पूर्वेण समानमुत्तरमनात्मान्मनात्मेति ग्राहयत् - १/१/१२, ब्र.सू.शा.भा.

(ख) मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा, रूपादीन्व्याप्यनुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्"- ४/२४ ,प.द., पृ०- १९२

यदि आत्मा को युक्तिपूर्वक पृथक् कर लिया जाये तो वह परब्रह्म ही हो जाता है ।[1] श्रुति भी कहती है कि 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' जो सबका अन्तरात्मा है और सर्वदा प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है, उसे मुञ्ज से सिरकी के समान धैर्यपूर्वक अपने शरीर से पृथक् करके जानना चाहिये ।[2] इस प्रकार पञ्चकोशों से विलक्षण प्रत्यगात्मा सभी कोशों में एक ही है और वही महावाक्य का अन्वयी 'त्वम्' पद का अर्थ है, यही श्रुति पञ्चकोश कथन का तात्पर्य है ।

यह आत्मा जिस प्रकार पञ्चकोशों से अलग है, उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से भी भिन्न है । ये तीनों अवस्थायें अन्त:करण की अवस्थायें है और अन्त:करण आत्मा से भिन्न अनात्म और परिवर्तनशील है । अत: अन्त:करण की ये अवस्थायें भी अनात्म और अन्त:करण से सर्वथा अलग है । साथ ही आत्मा इन अवस्थात्रय से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं है अत: आत्मा को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति से सम्बन्ध रहित कहा गया है । इस प्रकार का आत्मा एक ही है, जिसके जैसा अन्य कोई नहीं है, अत: अद्वितीय कहा जाता है । यह आत्मा ही शरीरत्रय में एकत्व रूप से विद्यमान है । आध्यात्मिक शरीर अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य, आधिभौतिक शरीर अर्थात् स्थूल शरीर और आधिदैविक शरीर अर्थात् प्राण देवता, चक्षु देवतादि सभी शरीर-त्रय में एक ही आत्म तत्त्व विद्यमान है, जो कि 'त्वम्' पद का अर्थ है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीनों अवस्थायें परिवर्तनशील होती है । इनमें परिवर्तन का स्तर इतना स्थूल होता है कि प्रत्यक्षरूप से यह नित्य प्रतिदिन दिखलाई भी देता है । इन अवस्था त्रय के परिवर्तनशील और विकार होने के कारण इन्हें व्यभिचारी कहा गया है । इसके विपरीत अवस्था त्रय का अनुसरण करने वाली आत्मा (साक्षी तत्त्व) के अपरिवर्तनशील और अविकारी होने से इसे अव्यभिचारी कहा गया है। व्यभिचारी कही गयी अवस्था त्रय को सर्प, दण्ड, धारा, भूमिछिद्र, पशु की मूत्र धारा आदि के समान मिथ्या बताया गया है क्योंकि ये सर्पादि वास्तविक न होकर रज्जु में दिखलाई देने वाली प्रातिभासिक वस्तुएँ हैं, जो कि अज्ञान की आवरण-विक्षेप शक्ति जन्य होने से अज्ञानरूप ही हैं । अन्धकार में मनुष्य को सर्पादि के होने का भ्रम हो जाता है परन्तु दीपक के प्रकाश में अन्धकार के तिरोहित होते ही इन भ्रमजन्य वस्तुओं का नाश हो जाता है और रज्जु मात्र ही शेष रहता है । इसीलिये इन सर्प, दण्डादि को मिथ्या कहा गया है । जिनका तीनों कालों में बाध हो, वह तत्त्व मिथ्या कहा जाता है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित

[1] " यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृत:, शरीरत्रितयाद् धीरै: परं ब्रह्मैव जायते" -१/४१, प.द., पृ०- ८६

[2] "अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्ट: ।तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण" - ६/१२,को.उ.

किया गया है, उससे व्यभिचरित होने के कारण मिथ्या कहलाता है ।[1] इसी प्रकार मुमुक्षु को जब आत्मज्ञान होता है तो सभी प्रकार के अज्ञान और अज्ञान जन्य सभी कार्यों का नाश हो जाता है, उस समय अन्त:करण भी अपनी तीनों अवस्थाओं सहित अपने मूल कारण ब्रह्म में लीन हो जाता है । इसीलिये इन अवस्था त्रय को मिथ्या कहा गया है । जबकि अव्यभिचारी कही गयी आत्मा रज्जु के इदम् (यह) अंश के समान सत्य कही गयी है । रज्जु का इदम् अंश अस्तित्ववाची होता है अर्थात् रज्जु का इदम् अंश उसकी अस्तित्वता का बोधक है, उसकी सत्ता का बोधक है । सत्ता (ब्रह्म) के स्वरूपगत सत्, चित् और आनन्द में से सत् का बोधक है- रज्जु का इदम् अंश । अज्ञान की आवरण-विक्षेप शक्तियों के कारण सत्ता के चित् और आनन्द स्वरूप तो संसार की सभी वस्तुओं में दृष्टिगोचर नहीं होते परन्तु सत्ता के सत् स्वरूप को अज्ञान की आवरण-विक्षेप शक्ति भी नहीं छिपा सकती अन्यथा इस जगत् का ही अभाव हो जायेगा । अत: सत्ता का सत् रूप तीनों कालों में अबाधित रूप से विद्यमान रहता है अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया गया है, उससे व्यभिचरित न होने के कारण सत्य कहलाता है ।[2] इसीलिये सत् रूप के द्योतक रज्जु के इदम् अंश के सत्य होने के समान ही अव्यभिचारी आत्मा को सत्य कहा गया है, जिसका कि तीनों कालों में कभी भी बाध नहीं होता ।

उस आत्मा के तीन आवसथ अर्थात् वासस्थान और तीन स्वप्न हैं । पुर में प्रविष्ट हुए राजा के समान जीवरूप में प्रवेश करने वाले उस आत्मा के तीन आवसथ हैं - जाग्रत काल में इन्द्रियों का स्थान दक्षिण नेत्र, स्वप्नकाल में मन के भीतर और सुषुप्ति में हृदयाकाश के अन्दर अथवा पितृदेह, मातृगर्भाशय और अपना ही शरीर ये तीन आवसथ हैं । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं । यदि यह कहा जाये कि प्रबोध रूप होने के कारण जाग्रत स्वप्न नहीं है तो ऐसा नहीं है । वह भी स्वप्न ही है, क्योंकि उस समय परमार्थ आत्मस्वरूप के बोध का अभाव होने से स्वप्न के समान असद् वस्तुएँ दिखलाई देती हैं । यह दक्षिण नेत्र प्रथम आवसथ, मन का अन्तर्भाग द्वितीय और हृदयाकाश तृतीय आवसथ हैं ।[3] “त्रय आवसथा: त्रय: स्वप्ना:” इस अवस्थात्रय श्रुति

---

[1] “ यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं व्यभिचरति तत्सत्यम्”- २/१/१, तै.उ. शा.भा.

[2] “ यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम्”- २/१/१, तै.उ. शा.भा.

[3] “त्रय आवसथास्त्रय स्वप्ना: -१/३/१२, ऐ.उ., तस्यैवं सृष्ट्वा प्रविष्टस्य जीवेनात्मना राज्ञ इव पुरं त्रय आवसथा: । जागरितकाल इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षु:, स्वप्नकालेऽन्तर्मन:, सुषुप्तिकाले हृदयाकाश इत्येतत् वक्षमाणा वा त्रय आवसथा:, पितृशरीरं मातृगर्भाशय: स्वं च शरीरमिति । त्रय: स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या: । ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्न:, नैवम्, स्वप्न एव । कथम् ? परमार्थस्वात्मप्रबोधाभावात्स्वप्नवदसद्वस्तु दर्शनाच्च । अयमेवावसथश्चक्षुर्दक्षिणं प्रथम:, मनोऽन्तरं द्वितीय:, हृदयाकाशस्तृतीय:- १/३/१२, ऐ.उ.शा.भा.

का तात्पर्य स्वार्थ में पुरुषार्थ का अभाव दिखलाना है। क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्व का ज्ञान होने पर 'ब्रह्म को जानने वाला परम तत्त्व को प्राप्त करता है'- इस पुरुषार्थ का श्रवण होता है। 'फलयुक्त कर्म की सन्निधि में अफल उसका अंग होता है' इस न्याय के अनुसार इस प्रकरण में अफल अवस्थात्रयश्रुति, फलयुक्त ब्रह्मवित् श्रुति का अंग हो जाती है।

मूल ग्रन्थ (४)-

अतोऽसदनृतजडपरिच्छिन्नदु:खविरूद्धं यत् सत्यज्ञानानन्तानन्दलक्षणं ब्रह्म तत् त्वमसि इति महावाक्ये तच्छब्देन स्ववाच्यशबलब्रह्मगतपारोक्ष्यांशपरित्यागेन लक्षयितव्यम्। यथोक्तश्च प्रत्यगात्मा त्वंशब्दवाच्यशबलगतसद्वितीयांशपरित्यागेन लक्षयितव्यम्। यथोक्तश्च प्रत्यगात्मा त्वंशब्दवाच्यशबलगतसद्वितीयांशपरित्यागेन स्ववाच्यसद्वितीयत्वशबलत्वंपदार्थाभिधानद्वारेण त्वंशब्देन लक्षयितव्य: जहदजहल्लक्षणया, अन्यथा सद्वयम् अद्वयम्, प्रत्यक्षं परोक्षम्- इति तत्त्वमसिमहावाक्यार्थप्रतिपत्तौ विरोधप्रसङ्गात्। एवं पदार्थद्वयं शोधयित्वा व्यवस्थितं तदेव "तत्त्वमसि" इत्याचार्यो बोधयति। "तत्त्वमसि" इत्यादिमहावाक्येन स च मुमुक्षु: यथोक्तं ब्रह्मैवाहम्, यथोक्त: प्रत्यगात्मा अहमेव, अहमेव च यथोक्त: प्रत्यगात्मा, तद्यथोक्तं परं ब्रह्म- इति व्यतिहारेण ब्रह्मात्मनोरेकत्वं दृढं प्रतिपद्यते। तश्च संसारादचिरेण मुच्यते, " तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादिश्रुते: ॥

इत्यवान्तरवाक्यार्थव्याख्यानम्।

अनुवाद (४)-

अत: असद्, अनृत, जड़, परिच्छिन्न और दु:खादि से विरूद्ध जो सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द लक्षण वाला तत् पद का अर्थ ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत् शब्द अपने वाच्यार्थ से अविद्या उपहित ब्रह्मगत पारोक्ष्यांश का परित्याग करने से लक्षित किया जाना चाहिये। ऊपर कही गयी प्रत्यगात्मा, त्वं शब्द द्वारा अपने वाच्यार्थ अविद्यागत भेद अंश के परित्याग से लक्षणा के द्वारा लक्षित होनी चाहिये। ऊपर कही गयी प्रत्यगात्मा, त्वं शब्द के वाच्यार्थ अविद्यागत भेद अंश के परित्याग से, त्वं पद अपने वाच्यार्थ सद्वितीयत्व, शबलत्व पदार्थो का

कथन करने से, त्वं शब्द से जहदजहल्लक्षणा से लक्षित होता है। अन्यथा सद्वय- अद्वय, प्रत्यक्ष-परोक्ष इस प्रकार तत्त्वमसि महावाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में विरोध प्रसंग होता। इस प्रकार दोनों पदार्थों का अर्थ शोधन करके "वह तुम ही हो" इसप्रकार आचार्यों द्वारा व्यवस्थित रूप से बताया जाता है। "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य से वह मुमुक्षु ऊपर कहा गया 'ब्रह्म ही मैं हूँ' और ऊपर कही गया 'प्रत्यगात्मा मैं ही हूँ' तथा ऊपर कहा गया 'परं ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार का अनुभव होने पर ब्रह्मात्मैकत्व दृढ़ होता है। तब मुमुक्षु संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। "आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है। उसके लिये मोक्ष होने में उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है" इस प्रकार श्रुति वचन भी है।

विश्लेषण (४)-

अत: असद्, अनृत, जड़, परिच्छिन्न और दु:खादि गुणों से रहित जो सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द स्वरूप वाला ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में तत् शब्द का अभीष्ट अर्थ है। तत् पद का यह अर्थ प्राप्त करने के लिये तत् पद के अपने वाच्यार्थ में से अविद्या उपहित ब्रह्मगत पारोक्ष्यांश का परित्याग करने से लक्षित होता है। इसीप्रकार ऊपर कही गयी प्रत्यगात्मा, त्वं पद का अभीष्ट अर्थ है जो कि त्वं शब्द के अपने वाच्यार्थ अविद्यागत सद्वितीयांश (भेद अंश) के परित्याग से लक्षणा के द्वारा लक्षित होती है। त्वं शब्द के वाच्यार्थ में से अविद्यागत भेद अंश सद्वितीयत्व और शबलत्व के परित्याग से जहदजहल्लक्षणा से प्रत्यगात्मा अर्थ (शुद्ध चैतन्य) लक्षित होता है। अन्यथा सद्वय- अद्वय, प्रत्यक्ष- परोक्ष इस प्रकार तत्त्वमसि महावाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में विरोध प्रसंग होता अर्थात् ब्रह्म एक है, जीवात्माएँ अनेक हैं, ब्रह्म परोक्ष है और आत्मा प्रत्यक्ष है। अत: वाच्यार्थ को यथावत् स्वीकार करने पर तत्त्वमसि महावाक्य का अखण्ड एकरस अर्थ प्राप्त नहीं होता और विरोधी धर्मों के एकसाथ रहने पर विरोधाभासी स्थिति उत्पन्न हो जाती। अत: वाच्यार्थ में से इन विरूद्धांशों सद्वय- अद्वय, प्रत्यक्ष- परोक्ष आदि का त्याग करना ही उचित होता है। इस प्रकार दोनों पदार्थों तत् और त्वम् का अर्थ शोधन करके "वह ब्रह्म तुम ही हो"- इस प्रकार आचार्यों द्वारा व्यवस्थित रूप से बताया जाता है। "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य का अर्थ ज्ञान होने पर मुमुक्षु को 'ब्रह्म ही मैं हूँ' और 'प्रत्यगात्मा मैं ही हूँ' 'पर ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार का अनुभव होता है। इस प्रकार का अनुभव होना ही

अपरोक्षानुभूति कहलाता है । इस अनुभव से ब्रह्मात्मैकत्व दृढ़ होता है । यह मुमुक्षु की जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है । प्रारब्धकर्मों का भोग पूर्ण हो जाने पर मुमुक्षु संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । छान्दोग्योपनिषद् की चिरश्रुति इसमें प्रमाण है कि "आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है । उसके लिये मोक्ष होने मे उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता । उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है"।[1]

[1] "आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये"— ६/१४/२, छा.उ., पृ०-६२९

॥ षष्ठ अध्याय ॥

[बन्धमोक्षविचार:]

बन्धन – मोक्ष निरूपण

मंगलाचरण-

स्वाज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा ।

स्वाभाविकस्वमहिमस्थितिरस्तमोहा प्रत्यक्चितिर्विजयते भुवनैकयोनि: ॥

अन्वय-

स्व अज्ञानकल्पितजगत्परमेश्वरत्वजीवत्वभेदकलुषीकृतभूमभावा । स्व स्वाभाविक महिमस्थिति: अस्तमोहा, भुवनैकयोनि: प्रत्यक्चिति: विजयते ॥

अनुवाद-

अपने अज्ञान से कल्पित जगत्, परमेश्वरत्व और जीवत्व के भेद से अपने व्यापकभाव को कलुषित किये हुये और अपने स्वाभाविक स्वरूप की महिमा में स्थित होने पर जिसका मोह अस्त हो गया है, ऎसे समस्त जगत् के एकमात्र कारण प्रत्यगात्मा रूप चैतन्य (ब्रह्म) की जय हो।

मूल ग्रन्थ (१)-

अविद्यावस्थायां तु साभासाज्ञानद्वारेण शुद्धस्यैव ब्रह्मण: प्रकृतिनिमित्तकारणत्वं ईश्वरत्वं साक्षित्वं च कार्यप्रपञ्चमीशितव्यजीवभेदं दृश्यं चापेक्ष्य भवति, यथा शुद्धस्यैव प्रत्यगात्मनस्साभासकार्यकरणसंबन्धद्वारेण नियोज्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वसंबन्ध:, न कार्यकरणसंघातादिविशिष्टस्य, तद्वत् । तदुक्तम्-

"ऎश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चात्मन: ।

सदेशितव्यकार्यार्थसाक्ष्यार्थेनास्य संगते" ॥ इति ।

तस्माद् ब्रह्मैव संसरति साभासस्वाविद्यया स्वविद्यया च ब्रह्मैवमुच्यते । संसारश्चास्य ब्रह्मणो जीवत्वेश्वरत्वजगद्भेदाश्रयत्वम् , तन्नाशे स्वरूपस्थितिः मोक्षः, " यो वै भूमातदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" इति श्रुतेः ।

अनुवाद (१)-

अविद्या की अवस्था में भेदात्मक जगत् और उसके कारण अज्ञान के द्वारा शुद्ध ब्रह्म में उपादान और निमित्त कारणत्व, ईश्वरत्व, साक्षित्व, समस्त कार्य प्रपञ्च, नियन्त्रित अनेक जीव और दृश्य जगत् एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं । जिसप्रकार शुद्ध प्रत्यगात्मा में ही अज्ञान रूप कार्य जगत् और उसके कारण अज्ञान के सम्बन्ध से नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि सम्बन्ध होते हैं, न कि शरीर, इन्द्रिय संघात और अज्ञानादि से विशिष्ट जीव की तरह । कहा भी गया है कि- "ऐश्वर्य, कारणत्व और साक्षित्व आत्मा का होता है । सदा नियन्त्रित कार्य जगत् के अर्थ से और साक्षी अर्थ से ही इसकी (आत्मा की) संगति है ।

इसलिये ब्रह्म ही अपनी अविद्या से कार्य जगत् के रूप में संसरण करता है और अपनी अविद्या से ब्रह्म ही मुक्त भी होता है । जब इस ब्रह्म में जीवत्व, ईश्वरत्व और जगत् के समस्त भेदों का आश्रयत्व होता है, तब यह संसार कहलाता है । उसका (संसार का) नाश होने पर स्व रूप में स्थित होना ही मोक्ष कहलाता है । 'जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है'- इस प्रकार श्रुति वचन है ।

विश्लेषण (१)-

अविद्या से उपहित होने पर अज्ञान और उसके कार्य भेदात्मक जगत् के द्वारा शुद्ध ब्रह्म में उपादान और निमित्त कारणत्व, ईश्वरत्व, साक्षित्व, समस्त कार्य प्रपञ्च, नियन्त्रित अनेक जीव और दृश्य जगत् एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं अर्थात् सभी आपस में सम्बद्ध हैं क्योंकि सभी को आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा होती है । ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होने से वह कारण कहलाता

है। जगत् पर शासन करने और जगत् का स्वामी होने के कारण ईश्वर कहलाता है, नियन्त्रित होने से जीव ईशितव्य कहलाता है, जगत् का तटस्थ द्रष्टा होने से साक्षीभाव उत्पन्न होता है, देखने योग्य होने से जगत् को दृश्य कहा जाता है । इस प्रकार सभी कारणत्व, साक्षित्व ईश्वरत्वादि उपाधियाँ एक-दूसरे की अपेक्षा से कही गयी हैं। जिस प्रकार व्यष्टि स्तर पर अज्ञान दशा में शुद्ध प्रत्यगात्मा में अज्ञान और उसके कार्य जगत् प्रपञ्च के द्वारा नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि सम्बन्ध भी अपेक्षा से होते हैं अर्थात् प्रत्यगात्मा (प्रत्येक शरीर के अन्दर स्थित आत्मा) में उपाधिभेद के कारण नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि की सत्ता होती है और ये सभी आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा से जुड़े होते हैं । परन्तु ब्रह्म और प्रत्यगात्मा में अज्ञान दशा में होने वाला परिवर्तन जीव में होने वाले परिवर्तनों के समान नहीं होता क्योंकि जीव शरीर, इन्द्रियसंघात और अज्ञान से विशिष्ट होता है और इसमें होने वाले परिवर्तन जैसे कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि परिवर्तन तत्त्वत: (वास्तविक) होते हैं । कर्ता जीव, भोक्ता जीव से पृथक् होता है और प्रमाता जीव इन दोनों से अलग होता है । कोई भी विशिष्ट तत्त्व दूसरे विशिष्ट तत्त्व से हमेशा अलग ही होता है। जैसे- शुक्लत्व विशिष्ट पट, कृष्णत्व विशिष्ट पट से अलग होता है । जैसे ही विशिष्ट तत्त्व का विशेषण बदलता है, वह विशिष्ट तत्त्व भी बदल जाता है । जीव भी विशिष्ट तत्त्व है और विशेषण बदलने के साथ- साथ यह जीव भी बदलता जाता है। जबकि प्रत्यगात्मा और ब्रह्म ये दोनों तत्त्व विशिष्ट न होकर उपहित कहे जाते हैं, इनके स्वरूप में तत्त्वत: कभी भी परिवर्तन नहीं होता, अज्ञान से उपहित होने के कारण केवल इनकी उपाधि में परिवर्तन होता है । यह उपाधि आरोपित ही होती है अर्थात् नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि सभी आरोपित की जाती है, अत: उपाधियाँ कहलाती हैं । इनके आरोपित होने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है। अत: ब्रह्म और आत्मा के आरोपित धर्म आपस में सापेक्ष होते हैं परन्तु जीव के समान नहीं । क्योंकि जीव में

परिवर्तन तत्त्वत: होते हैं, जो एक-दूसरे से पूर्णत: अलग होने के कारण एक- दूसरे से सापेक्ष भी नहीं होते हैं। कहा गया है कि-

ऎश्वर्य, कारणत्व और साक्षित्व ये अज्ञान दशा में आत्मा के ही धर्म होते हैं। सम्पूर्ण जगत् का ईश्वर होने से इसमें ऎश्वर्य, समस्त जगत् का निमित्त और उपादान कारण होने से इसमें कारणत्व और सबको तटस्थ रूप से साक्षीभाव से देखने के कारण इसमें साक्षित्व पाया जाता है।[1] एक ही आत्मा में इन सभी धर्मों की संगति इनमें अपेक्षा भाव से होने के कारण सम्भव होती है। इस समस्त कार्य जगत् को ब्रह्म ही नियन्त्रित रखता है और इस पर शासन करता है। इसलिये इस जगत् को ईशितव्य कहा गया है। ब्रह्म साक्षिभाव से इस जगत् का द्रष्टा भी है और द्रष्टा, दृश्य की अपेक्षा से ही होता है, अगर यह दृश्य जगत् नहीं हो तो साक्षी किसको देखेगा और बिना देखे वह द्रष्टा (साक्षी) भी नहीं कहलायेगा। अत: साक्षी (द्रष्टा) के लिये ही यह ईशितव्य जगत् (दृश्य) है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि तत्त्वत: ब्रह्म ही शासक और शासित दोनों है। ब्रह्म ही कार्य और कारण दोनों है। इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि ब्रह्म ही अपनी अविद्या से कार्य जगत् के रूप में संसरण करता है और अपनी अविद्या से ब्रह्म ही मुक्त भी होता है। यहाँ अविद्या से तात्पर्य है- अभेद में भेद की बोधिका शक्ति और विद्या से तात्पर्य है- भेद में अभेद को बताने वाली शक्ति। जब ब्रह्म अविद्या से उपहित होता है, तब ही उससे इस समस्त जगत् की सृष्टि होती है और वह साभास (प्रतिबिम्ब) रूप में संसरण करता है अर्थात् अद्वैत वेदान्त आभासवाद को स्वीकार करता है। इस मत के अनुसार एक आत्मा ही सत्य है। आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है। अत: स्वरूपत: आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्कारण। तथापि अज्ञान रूप उपाधि से युक्त हुआ आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के कारण अन्तर्यामी, साक्षी, ईश्वर आदि कहलाता है। इस प्रकार वह संसार रूप में

[1] "ऎश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चात्मन: । सदेशितव्यकार्यार्थसाक्ष्यार्थेनास्य संगते" –४/३/३५४, बृ.उ.भा.वा.

भी भासित होता है । इसी को ब्रह्म का आभास रूप में संसरण करना कहा गया है, जो कि अज्ञान के कारण होता है । इसके विपरीत जब ब्रह्म अपनी विद्या दशा में अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो अज्ञान और तज्जन्य आभास के नष्ट होने से वह मुक्त कहलाता है । यह ध्यातव्य है कि अद्वैत वेदान्त में वस्तुत: मुक्ति न तो उत्पन्न होती है और न ही पहले से अप्राप्त है । वह तो प्राप्त ही की प्राप्ति है । बन्धन की अवस्था में जो सत्य, अज्ञात रूप से विद्यमान रहता है, उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है । जैसे- कण्ठस्थित मुक्ताहार को विस्मरणवश इधर-उधर ढूँढते फिरते हैं और अन्त में अपनी ओर देखने पर हार मिल जाता है, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिये इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं होती । बन्धन अज्ञान कृत है । उस अज्ञान रूप आवरण को दूर कर देना ही मुक्ति है और यही ज्ञानावस्था है । अत: ब्रह्म या आत्मा ही अज्ञान से बन्धनग्रस्त होता है और वही ज्ञान से मुक्त होता है, यह कहना उचित ही है ।

इसीलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि जब ब्रह्म ही जीवत्व, ईश्वरत्व और जगत् के समस्त भेदों का आश्रय हो जाता है अर्थात् ब्रह्म अज्ञान के कारण एक होते हुये भी अनेक रूपों जीव, ईश्वर और जगत् आदि में भासित होने लगता है, तब वह दशा ही संसार[1] कहलाती है । संसार का नाश होने पर स्व रूप में स्थित होना ही मोक्ष कहलाता है अर्थात् अज्ञानवश जो भेद की या सीमितता की दशा उत्पन्न हो गई थी, उसका ज्ञान के द्वारा नाश हो जाने पर ब्रह्म पुन: अभेद या अद्वय रूप में स्थित हो जाता है और समस्त सीमितता समाप्त हो जाती है और उसे अपने व्यापकत्व का अनुभव हो जाने से वह मुक्त हो जाता है । छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है कि 'जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है'[2] अर्थात् जिसमें व्यापकता का भाव होता है, जो सभी में एकमात्र आत्मतत्त्व को ही देखता है, वह अमृत हो जाता है अर्थात् मुक्त हो

[1] "क्रियाकारकफलभेदों हि संसार इति"- ७/२४/१, छा.उ.शा.भा.,पृ. ७३१ ।

[2] " यो वै भूमातदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्"- ७/२४/१, छा.उ.,पृ०-२२७ ।

जाता है । इसके विपरीत जो अल्पता, अव्यापकता और भेद बुद्धि से ग्रस्त रहता है, वह मरणशील होता है । अत: ब्रह्म के अनन्त, व्यापक और अद्वय होने से ब्रह्म ही भूमा है, ब्रह्म ही अमृत है शेष सब मरणधर्मा हैं ।

मूल ग्रन्थ (२)-

ब्रह्मणश्च प्रत्यग्रूपेणैव ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वमुच्यते । अहमेतावन्तं कालं नाज्ञासिषमात्मानम् , इदानीमाचार्यप्रसादात् [इदानीं जानामीति] ज्ञानाज्ञानयो: प्रत्यगात्माश्रयत्वानुभवात् नाद्वयानन्दस्वरूपेण ब्रह्मणो ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम्, अद्वयानन्दस्वरूपं ब्रह्म मूढमित्याद्यनुभवाभावात् । नापीश्वरस्य प्रतिबिम्बस्य ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम् , ईश्वरो मूढ इत्याद्यनुभवाभावात् । ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वश्रुतिस्मृतिलोकप्रसिद्धिविरोधाच्च । नापि जगतो ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम् , जडत्वप्रसिद्धे: । नापि जीवाख्यप्रतिबिम्बस्य ज्ञानाज्ञानाश्रयत्वम् , सुषुप्तिकाले सर्वोपाधिप्रलये जीवत्वं शक्तिमदविद्यायामवस्थितमिति पुनरुत्थानलिङ्गेनानुमेयमेव भवति, न त्वपरोक्षतया परोक्षतया वा सुषुप्तिकाले जीवत्वस्य स्फुरणमस्ति । न च परोक्षे जीवत्वे जीवस्यापरोक्षत्वं संभवति । तत्र जीवाश्रयत्वेव चेत्, अज्ञानमपि परोक्षमेव स्यात्, न चैतद् दृष्टम् ; तस्मात् प्रत्यग्ब्रह्मण एवाज्ञानित्वमभ्युपगन्तव्यसु , सुषुप्तिकाले प्रत्यक्चैतन्याश्रयत्वेनैवाज्ञानस्य स्फुरणात् । न चाज्ञानस्य विषयाश्रयविभागेनावश्यं भवितव्यमिति चोद्यमस्ति, सुषुप्तौ तदभावादेव, तदुक्तं वार्तिककारै: -

"प्रमात्राद्युत्थिते: पूर्वं चिदन्यानचोत्तम: [नन्वयात्तमो] ।

विशेषणा चिदेवैका स्वानुभूत्यैव गम्यते" ॥ इति ।

अनुवाद (२)-

ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा रूप में ज्ञान और अज्ञान का आश्रय है । 'मैं अब तक आत्मा को नहीं जानता हूँ' या 'अब गुरु की कृपा से आत्मा को जानता हूँ' इस प्रकार का अनुभव होने से ज्ञान

और अज्ञान का आश्रय प्रत्यगात्मा ही है। अद्वय (अभेद) आनन्द रूप में शुद्ध ब्रह्म ज्ञान और अज्ञान का आश्रय नहीं है। अद्वयानन्द ब्रह्म मूढ होता है, इस प्रकार के श्रुति वचन के अनुभव का अभाव होने के कारण। न ही ईश्वर रूप प्रतिबिम्ब ज्ञान और अज्ञान का आश्रय है। ईश्वर मूढ होता है, इस प्रकार के श्रुति वचन के अनुभव का अभाव होने के कारण। ईश्वर का सर्वज्ञत्व श्रुति, स्मृति और लोकप्रसिद्ध है, अत: ईश्वर के मूढ होने का विरोध ही होता है। न हि जगत् ज्ञान और अज्ञान का आश्रय है, जड़ रूप में प्रसिद्ध होने के कारण। न हि प्रतिबिम्बरूप जीव ही ज्ञान और अज्ञान का आश्रय होता है, क्योंकि सुषुप्ति काल में सभी उपाधियों का लय हो जाने पर जीवत्व भी शक्तियुक्त अविद्या में ही स्थित हो जाता है, इस प्रकार पुन: जागने के हेतु द्वारा ही जीवत्व का अनुमान होता है। सुषुप्ति काल में न परोक्षतया न ही अपरोक्षतया जीवत्व का भान होता है। न ही जीवत्व के परोक्ष रहने पर जीव की अपरोक्षता सम्भव है। तब यदि जीव को अज्ञान का आश्रय मान लिया जाये तो अज्ञान भी परोक्ष ही होगा, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिये प्रत्यगात्मा रूप ब्रह्म में ही अज्ञानित्व (अज्ञानाश्रयत्व) प्राप्त होता है, सुषुप्ति काल में प्रत्यक्चैतन्य के आश्रयत्व से ही अज्ञान का भान होने के कारण। अज्ञान का विषय और आश्रय के रूप में विभाग नहीं हो सकता, सुषुप्त्यवस्था में उसका (विषय और आश्रय रूप भेद का) अभाव होने से। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है कि – " प्रमातादि के उदय से पूर्व चिदात्मा में कोई भेद (उपाधि भेद) नहीं होता। उस समय एक विशेषणा (अज्ञान रूप विशेषण वाली आत्मा) चिदात्मा ही स्वानुभव के द्वारा जानी जाती है"।

विश्लेषण (२)-

अद्वैत-वेदान्त में दो विचारधारायें प्रधान हैं। भामतीकार वाचस्पति मिश्र का मत अवच्छेदवाद है और विवरणकार प्रकाशात्मयति का मत प्रतिबिम्बवाद है। दोनों ही अज्ञान का विषय ब्रह्म को स्वीकार करते हैं परन्तु अज्ञान के आश्रय के सम्बन्ध में दोनों मतों की भिन्न-भिन्न

मान्यतायें हैं। अवच्छेदवाद के अनुसार अज्ञान का आश्रय जीव है और प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है। सर्वज्ञात्ममुनि प्रतिबिम्बवादी हैं और अज्ञान का आश्रय ब्रह्म को ही स्वीकार करते हैं। अत: वे कहते हैं कि ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा रूप में ज्ञान और अज्ञान का आश्रय है। व्यक्ति यह अनुभव करता है कि 'मैं अब तक आत्मा को नहीं जानता हूँ' या 'अब गुरु की कृपा से आत्मा को जानता हूँ' अत: अनुभव से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और अज्ञान का आश्रय प्रत्यगात्मा ही है। अद्वय (अभेद) आनन्द रूप में शुद्ध ब्रह्म ज्ञान और अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि 'अद्वयानन्द ब्रह्म मूढ (अज्ञानग्रस्त) होता है', इस प्रकार के श्रुति वचन कहीं पर भी दिखाई नहीं देते। न ही प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर[1] ज्ञान और अज्ञान का आश्रय है क्योंकि 'ईश्वर मूढ (अज्ञानग्रस्त) होता है', इस प्रकार के श्रुति वचन का अभाव पाया जाता है। साथ ही ईश्वर का सर्वज्ञत्व श्रुति, स्मृति और लोकप्रसिद्ध है, अत: इससे भी ईश्वर के मूढ (अज्ञानग्रस्त) होने का विरोध ही होता है। जो सर्वज्ञ है, वह मूढ नहीं हो सकता और जो मूढ नहीं है, वह ज्ञान और अज्ञान का आश्रय भी नहीं हो सकता। जगत् भी ज्ञान और अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि जगत् जड़ है। जड़ में कभी भी ज्ञान और अज्ञान नहीं रह सकते, इसके लिये किसी चेतन तत्त्व का होना आवश्यक है। साथ ही जगत् स्वयं ही अज्ञान का कार्य है और कार्य कारण का आश्रय हो ही नहीं सकता। यदि जगत् को अज्ञान का आश्रय मान भी लिया जाये तो यह विरोध उपस्थित होगा कि जगत् की उत्पत्ति से पूर्व अज्ञान किसमें रहता है। अत: जगत् को भी ज्ञान और अज्ञान का आश्रय नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अवच्छेदवादियों का यह मत है कि जीव ही ज्ञान और अज्ञान का आश्रय होता है, इसका विरोध करते हुये सर्वज्ञात्मन् यह

[1]"तस्यैव बिम्बस्याविद्यात्मिकायां मायायां प्रतिबिम्बमीश्वरचैतन्यम्"- शुद्ध चैतन्य का माया में गिरा हुआ प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है।- वे.प., पृ० ३५५

कहते हैं कि प्रतिबिम्बरूप जीव[1] भी ज्ञान और अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में सभी उपाधियों अर्थात् कर्त्ता, भोक्तादि का लय हो जाने पर जीव भी अविद्या में ही स्थित हो जाता है अर्थात् जीव का भी अज्ञान में लय हो जाता है और फिर सुषुप्ति से जागने पर ही जीवत्व का अनुमान होता है । सुषुप्ति काल में न परोक्षतया (अप्रत्यक्ष रूप से) न ही अपरोक्षतया (प्रत्यक्ष रूप से) किसी भी प्रकार से जीवत्व का भान नहीं होता है । यदि जीवत्व को अप्रत्यक्ष मान भी लिया जाये तब भी उसमें जीव की प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है अर्थात् अप्रत्यक्ष जीवत्व में जीव भी अप्रत्यक्ष ही होगा । तब यदि अप्रत्यक्ष जीव को अज्ञान का आश्रय मान लिया जाये तो अज्ञान भी अप्रत्यक्ष ही होगा, परन्तु लोक में ऐसा नहीं देखा जाता कि अज्ञान अप्रत्यक्ष है । अज्ञान का तो प्रत्यक्ष भान होता है । इससे भी जीव में अज्ञानाश्रयता का विरोध होता है । अत: जीव अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता । इसप्रकार ग्रन्थकार ने शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर, जीव और जगत् में अज्ञानाश्रयता का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है । परन्तु प्रत्यक्षसिद्ध अज्ञान कहीं तो रहता होगा अर्थात् कोई तो उसका आश्रय अवश्य ही होगा। बिना आश्रय के वह रह नहीं सकता । अब मात्र प्रत्यगात्मा ही अवशिष्ट है जो कि अज्ञान का आश्रय हो सकता है । इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्यगात्मा रूप ब्रह्म (प्रत्येक शरीर में रहने वाला चैतन्य) में ही अज्ञानित्व अर्थात् अज्ञानाश्रयत्व प्राप्त होता है, क्योंकि सुषुप्ति काल में भी प्रत्यगात्मा विद्यमान होता है, उसका कभी लय नहीं होता । प्रत्यक्चैतन्य में ही आश्रय रूप से सदा विद्यमान रहने के कारण सुषुप्ति काल में भी अज्ञान का भान होता है । अत: प्रत्यक्चैतन्य रूप ब्रह्म में ही अज्ञान का आश्रयत्व सिद्ध होता है । यहाँ पूर्वपक्षी यह शंका व्यक्त करते हैं कि ब्रह्म तो अज्ञान का विषय है, वह अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता । तब ग्रन्थकार कहते हैं कि अज्ञान का विषय और आश्रय के रूप में विभाग हो ही नहीं सकता क्योंकि सुषुप्त्यावस्था में तो अज्ञान का विषय और

[1] "तस्यैव अन्त:करणेषु प्रतिबिम्बं जीव चैतन्यम्"- वे.प., पृ० ३५५

आश्रय रूप भेद का अभाव पाया जाता है अर्थात् भेद होता ही नहीं है, अत: सुषुप्ति दशा में उसका अभाव दिखाई देता है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है कि–

"प्रमाता, प्रमाण, प्रमा और प्रमेय रूप इन अज्ञान के परिणामभूत उपाधियों के उदय होने से पूर्व चिदात्मा में कोई भी उपाधि भेद नहीं होता वह अपने शुद्ध निरूपाधिक रूप में ही विद्यमान रहता है। उस समय एक विशेषण वाला चिदात्मा अर्थात् एक मात्र अज्ञान रूप विशेषण से युक्त प्रत्यगात्मा ही स्वानुभव के द्वारा जाना जाता है।[1]

मूल ग्रन्थ (३)-

तत्राज्ञानस्यानादित्वात् अन्त:करणकञ्चुकद्वारं विनैव चैतन्यमाश्रयो भवति; ज्ञानस्य तु परिणामित्वादन्त:करणकञ्चुकमपरिधायैव चैतन्यमाश्रयो भवति । कूटस्थस्य परिणामिद्वारं विनैव परिणामसम्बन्धविरोधात् । अतो बोध्यस्शबलप्रियात्मा न परो नाप्यचेतन इति शबलात्मनो बोध्यत्ववचनं जीवाज्ञानपक्षस्य साधकं न भवति ब्रह्माज्ञानपक्षेऽपि ज्ञानाश्रयत्वस्य ब्रह्मणोऽन्त:करणशबलताद्वारत्वादनाद्यज्ञानसम्बन्धोऽपि ब्रह्मणोऽज्ञानसम्बन्धद्वारक एव , न ब्रह्मद्वारक:। नाप्यज्ञानान्तरसम्बन्धद्वारक:, भेदस्य भेदान्तरानपेक्षत्ववदज्ञानसम्बन्धस्या-प्यज्ञानान्तरसम्बन्धानपेक्षत्वात् । तस्मादविदुष एवाविद्या, अविद्ययैव चाविद्यावत्त्वम् । तस्माद् ब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैव मुच्यते " ब्रह्म वा इदमग्रासीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्" इत्यादिश्रुते: ।

---

[1] "प्रमात्राद्युत्थिते: पूर्वं चिदन्यानचोत्तम: [नन्वयात्तमो]। विशेषणा चिदेवैका स्वानुभूत्यैव गम्यते" -१/४/२९०, बृ.उ.भा.वा. ।

अनुवाद (३)-

अत: अज्ञान के अनादि होने के कारण आवरण रूपी अन्त:करण द्वार (माध्यम) के बिना ही चैतन्य अज्ञान का आश्रय होता है तथा ज्ञान के परिणामी होने के कारण आवरण रूपी अन्त:करण द्वार (माध्यम) को धारण करके ही चैतन्य ज्ञान का आश्रय होता है क्योंकि कूटस्थ आत्मा में ज्ञान का आश्रय अन्त:करण (परिणामिद्वार= वृत्तिद्वार) के बिना ही मानने पर ज्ञान आत्मा से सम्बन्ध में विरोध होने लगेगा । अत: अज्ञान विशिष्ट प्रतिबिम्बित आत्मा को ही ज्ञानाज्ञान का आश्रय जानना चाहिये, न पर ब्रह्म को और न ही किसी अचेतन को । इस प्रकार शबलात्मा (अज्ञान विशिष्ट प्रतिबिम्बित आत्मा) के बोध्यवचन जीव अज्ञान आश्रयत्व होने में साधक नहीं होते । ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान के पक्ष में भी, ज्ञान का आश्रय ब्रह्म अन्त:करण से विशिष्ट होने के कारण अनादि अज्ञान से सम्बन्ध के आधार पर भी ब्रह्म का अज्ञानसम्बन्ध ही द्वारक ही होगा, न कि स्वयं के द्वारा और न ही अज्ञान से अनन्तर कोई दूसरा अज्ञान-सम्बन्ध-द्वारक होगा क्योंकि भेद को अन्य भेद की अपेक्षा नहीं होने के समान ही अज्ञान-सम्बन्ध को भी अन्य अज्ञान-सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती । इसलिये अविद्वान् की ही अविद्या है और अविद्या से ही अविद्यावान् भी है । इसलिये ब्रह्म ही संसरण करता है, ब्रह्म ही मुक्त होता है । "पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि मै ब्रह्म हूँ । अत: वह सर्व हो गया" – इस प्रकार श्रुति वचन है ।

विश्लेषण (३)-

अत: अज्ञान के अनादि होने के कारण आवरण रूपी अन्त:करण द्वार (माध्यम) के बिना ही चैतन्य अज्ञान का आश्रय होता है अर्थात् अज्ञान अनादि[1] (उत्पत्ति रहित) कहा गया है, जो

[1] "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा । कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते" ॥ ११०॥ वि.चू., पृ०-३२

कि प्रत्यगात्मा में कब से है, यह नहीं कहा जा सकता और न ही अन्त:करणादि के इसकी उत्पत्ति में कारण बनने का प्रश्न उठता है। अत: यह आत्मा में साक्षात् रूप से, बिना किसी माध्यम के ही रहता है। इसके विपरीत ज्ञान के परिणामी अर्थात् उत्पत्तिशील होने के कारण यह अन्त:करण से युक्त होकर असाक्षात् रूप से आत्मा में रहता है। ज्ञान की उत्पत्ति में अन्त:करण द्वार या माध्यम का कार्य करता है। सर्वप्रथम अज्ञान होता है, अज्ञान से अन्त:करण उत्पन्न होता है, अन्त:करण से वृत्ति की उत्पत्ति होती है और वृत्ति से ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार की प्रक्रिया से गुजरने के बाद वृत्तिजन्य ज्ञान का आत्मा से सम्बन्ध बनता है। यह ज्ञान आत्मा में असाक्षात् रूप से रहने के कारण ज्ञान से आत्मा का सम्बन्ध भी असाक्षात् ही कहा जाता है। इसलिये ग्रन्थकार ने कहा है कि ज्ञान के परिणामी होने के कारण आवरण रूपी अन्त:करण द्वार (माध्यम) को धारण करके ही चैतन्य ज्ञान का आश्रय होता है। यदि आत्मा में ज्ञान का आश्रय अन्त:करण (परिणामिद्वार = वृत्तिद्वार) के बिना ही मान लिया जाये तो ऐसा मानने पर ज्ञान का आत्मा से जो असाक्षात् सम्बन्ध बताया जाता है, उस सम्बन्ध का विरोध होगा। साथ ही परिणामी ज्ञान की उत्पत्ति सम्बन्धी समस्या भी प्रकट होगी कि बिना अन्त:करण के अन्त:करणजन्य वृत्ति के अभाव में ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा। इसलिये यह मानना ही उचित है कि अन्त:करण रूपी द्वार को धारण करके ही चैतन्य ज्ञान का आश्रय होता है। अत: अज्ञान विशिष्ट प्रतिबिम्बित आत्मा को ही ज्ञानाज्ञान का आश्रय जानना चाहिये, न शुद्ध ब्रह्म को और न ही किसी अचेतन को। क्योंकि अज्ञान विशिष्ट आत्मा में ही अन्त:करणादि के होने से ज्ञानादि का आश्रयत्व सम्भव है। ब्रह्म सम्बन्धी अज्ञान के पक्ष में भी ज्ञान का आश्रय ब्रह्म अन्त:करण से विशिष्ट होकर ही ज्ञान का आश्रय होगा और अनादि अज्ञान का आश्रय ब्रह्म बिना अन्त:करणादि के ही साक्षात् रूप से अज्ञान का आश्रय होगा। अनादि अज्ञान से ब्रह्म का साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण ब्रह्म का अज्ञानसम्बन्ध ही द्वार होगा, न कि स्वयं ब्रह्म अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म और

ज्ञान के मध्य अन्त:करण द्वार का कार्य करता है, उसी प्रकार ब्रह्म और अज्ञान के मध्य इनका 'अज्ञानसम्बन्ध' ही द्वार होगा, अन्य कोई नहीं और न ही अज्ञान से अनन्तर कोई दूसरा अज्ञान सम्बन्ध द्वारक होगा । क्योंकि जिस प्रकार भेद को अन्य भेद की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार अज्ञानसम्बन्ध को भी अन्य अज्ञानसम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती । इसलिये यहाँ अनवस्था दोष का प्रश्न भी नहीं उठता । इसलिये प्रत्यगात्मा ही अविद्यायुक्त है और अविद्यायुक्त होने से ही अविद्यावान् भी है । अत: पुन: यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही अपने अज्ञान के कारण संसरण करता है और ब्रह्म ही अपने ज्ञान से मुक्त होता है । अर्थात् ज्ञान और अज्ञान दोनों ब्रह्म में ही है, अन्यत्र नहीं । अत: दोनों का आश्रय प्रत्यगात्मा रूप में ब्रह्म ही है । इसी तथ्य का समर्थन बृहदारण्यकोपनिषद् करता है कि 'पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि मै ब्रह्म हूँ। अत: वह सर्व हो गया' अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्म ही एक मात्र तत्त्व था और पहले वह स्वयं को नहीं जानता था, अज्ञानी था परन्तु जैसे ही उसने स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जाना कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ', तब वह सर्व हो गया अर्थात् अपने भूमा स्वरूप को जान गया । इससे भी यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म में ही ज्ञान और अज्ञान दोनों थे । अत: श्रुति भी यही कहती है कि ब्रह्म ही ज्ञान और अज्ञान का आश्रय है ।[1]

मूल ग्रन्थ (४)-

यदि पुनरनात्मविशिष्टस्य जीवप्रतिबिम्बस्यैव ज्ञानकर्माधिकारित्वं स्यात्, न पुनर्जीवत्वकञ्चुकद्वारेण प्रत्यग्ब्रह्मण:, तदाविशिष्टरूपेणैव तस्य स्वर्गमोक्षान्वयो वक्तव्य:, साधकस्यैव फलित्वात् । अन्यथान्यस्य साधकत्वेऽन्यस्य च फलित्वे अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसंगात् ,विशेषणस्य च महाप्रलयादौ नष्टस्य पुनरुत्थानाभावात्, नष्टोत्पत्तेश्च लोकवेदविरूद्धत्वात् । समाननामरूपप्रत्यभिज्ञया तदेव विशेषणमिदानीमिति

[1] " ब्रह्म वा इदमग्रासीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्"- १/४/१०,बृ.उ., पृ० २४३ ।

वक्तुमशक्यम् । विशेषणनाशाद् विशिष्टस्य विशेषणप्रत्यभिज्ञान्त[ज्ञातु]रभावात् स्वरूपस्यैव प्रत्यभिज्ञातृत्वे स्वरुपस्यैवाज्ञातृत्वमापद्यते । द्वैतदर्शनविभ्रमस्याज्ञानाश्रयत्वादुपाधि-विशिष्टताद्वारेण स्वरूपस्यैव साधकत्वे स्वरूपस्यैव फलित्वसम्भवान्नोक्तदोष: । तथा ब्राह्मणादिशरीरविशिष्टताद्वारेणात्मन: कर्माधिकारित्वे ब्राह्मणादिशरीरविशिष्टतारूपेणैवात्मनो भोक्तृत्वं स्यादिति चोद्यं नावतरति, विशिष्टस्यासाधकत्वात्, स्वरूपस्यैव च साधकत्वात् । तस्मात् ब्रह्मैव संसरति स्वाज्ञानात्, स्वज्ञानाच्च मुच्यते । न च ब्रह्मणस्साधकत्वे 'अद्वयानन्दब्रह्म मूढम्' इत्याद्यनुभवाभावो दूषणम्, प्रत्यग्रूपेण ब्रह्मणो मूढत्वसाधकत्वाभ्युपगमादित्युक्तम् । तदुक्तं भाष्यकारै: "न च ब्रह्मण इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया स्वार्थपरित्याग: कार्य:" इति वार्तिककारैरप्युक्तम्-

"अक्षमा भवत: केयं साधकत्वप्रकल्पने ।

किं न पश्यति संसारं मय्येवाज्ञानकल्पितम्" ॥इति ।

अनुवाद (४)-

यदि फिर से अनात्मविशिष्ट प्रतिबिम्बरूप जीव का ही ज्ञान और कर्म का अधिकारित्व हो, तब जीवत्व के आवरण के द्वारा प्रत्यग् रूप ब्रह्म का (ज्ञान और कर्म का अधिकारित्व) नहीं होगा । तब विशिष्टरूप से ही उसकी (जीव की) स्वर्ग और मोक्ष से सम्बद्धता कहनी चाहिये , साधक को ही फल मिलने के कारण से । अन्यथा अन्य का साधकत्व (कर्म कर्ता) होने पर और अन्य का फल होने पर अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश प्रसंग का उपस्थित होगा । महाप्रलय काल में नष्ट विशेषण का पुन: उत्थान का अभाव होने पर, क्योंकि 'नष्ट की उत्पत्ति होना' यह लोक और वेद विरुद्ध है । समान नाम और रूप की पहचान से वही विशेषण इस समय है, ऐसा कहना सम्भव नहीं होता । विशेषण का नाश होने पर विशिष्ट का (जीव का) भी नाश हो जाने पर विशेषण की पहचान का अभाव होने से, प्रत्यगात्मा में ही ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर प्रत्यगात्मा का

ही अज्ञातृत्व भी प्राप्त होता है। द्वैत या भेददृष्टि के कारणरूप अज्ञान का आश्रयत्व प्रत्यगात्मा में होने के कारण उपाधि की विशिष्टता के द्वारा प्रत्यगात्मा का ही साधकत्व होने पर, प्रत्यगात्मा का ही फलित्व सम्भव होने से ऊपर कहा गया दोष भी नहीं होता तथा ब्राह्मणादि शरीर से विशिष्टता के द्वारा आत्मा का कर्माधिकारित्व होने से, ब्राह्मणादि शरीर से विशिष्टता के द्वारा ही आत्मा का भोक्तृत्व भी होना चाहिये, इस प्रकार ऊपर कहा गया दोष भी उत्पन्न नहीं होता, विशिष्ट का (जीव का) असाधकत्व होने से और प्रत्यगात्मा का ही साधकत्व होने से। अत: ब्रह्म ही अपने अज्ञान से संसरण करता है और अपने ज्ञान से मुक्त होता है। ब्रह्म का साधकत्व सिद्ध होने पर 'अद्वयानन्द ब्रह्म मूढ है' इत्यादि अनुभव का अभाव रूप दोष भी नहीं होता क्योंकि प्रत्यग्रूप से ब्रह्म का मूढत्व, साधकत्वादि की प्राप्ति कही गई है। भाष्यकार शंकराचार्य के द्वारा भी कहा गया है कि- 'ब्रह्म का इष्ट करने की इच्छा वाले पुरूष को शास्त्र के अर्थ से विपरीत कल्पना करके उसके अर्थ का परित्याग नहीं करना चाहिये।' इसी प्रकार वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है कि-

"साधकत्व की प्रकल्पना में ऐसा क्या दोष है, जिसके प्रति आप अक्षमाशील हो रहे हैं। क्या आप नहीं देखते है कि समस्त संसार मुझमें व्यक्ति के अज्ञान द्वारा ही कल्पित है।"

विश्लेषण (४)-

पुन: पूर्वपक्षी यदि प्रत्यग् रूप ब्रह्म में ज्ञान और कर्म का अधिकारित्व न मानकर अन्त:करणादि अनात्मतत्त्वों से विशिष्ट प्रतिबिम्बरूप जीव में ही ज्ञान और कर्म का अधिकारित्व माने तो 'जो कर्म का कर्ता होता है, उसी को कर्म का फल मिलता है' इस नियम से विशिष्टरूप उस जीव को ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी कहनी चाहिये। अन्यथा अर्थात् ऐसा नहीं मानने पर कि स्वर्गादि जीव को नहीं मिलते है तो कर्म का कर्ता कोई अन्य और फल का भोक्ता कोई अन्य मानना पड़ेगा अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति हेतु कर्म किया जीव ने और फल मिलेगा किसी अन्य को,

ऐसा मानने पर अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश दोष उपस्थित होगें। अकृताभ्यागम से तात्पर्य है- न किये हुये कर्मफल का आगम होना और कृतप्रणाश से तात्पर्य है- किये हुये कर्म का नाश हो जाना। ये दोनों कर्म-सिद्धान्त के अनुसार दोष कहे गये हैं। यदि कर्म किया जीव ने और स्वर्ग मिला किसी अन्य को, तब जीव का किया हुआ कर्म तो नष्ट हो गया और जिसको उसका फल स्वर्ग मिला, उसके लिये नहीं किये हुये कर्मफल का आगम हो गया,तब यह क्रमश: कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दोष कहा जायेगा क्योंकि ऐसा कदापि नहीं होता कि कर्म किया किसी अन्य ने और फल मिल गया किसी अन्य को। जो कर्म करता है, उसी को फल भी मिलता है। इसके अतिरिक्त महाप्रलय काल में जब सभी अन्त:करणादि विशेषण नष्ट हो जाते है, तब उनका पुन: उत्थान नहीं होता क्योंकि जो एक बार नष्ट हो गया, उसकी पुन: उत्पत्ति नहीं होती। इसके विपरीत 'नष्ट की उत्पत्ति होना' अर्थात् जो वस्तु एक बार नष्ट हो गई, उसकी पुन: उत्पत्ति होना, यह लोक और वेद के विरूद्ध है। अत: एक बार नष्ट जीव पुन: उत्पन्न नहीं होता। परन्तु अद्वैत-वेदान्त का यह मानना है कि महाप्रलय के बाद जब यह सृष्टि पुन: उत्पन्न होती है तो पुन: यथावत् पहले की तरह ही समान रूप से उत्पन्न होती है जैसे कि प्रलय से पूर्व थी। अत: ग्रन्थकार कहते हैं कि जब पुन: सृष्टि होगी, तब वस्तुओं के समान नाम और रूप की पहचान नहीं हो पायेगी अर्थात् वह ही विशेषण इस समय है, ऐसा कहना सम्भव नहीं हो पायेगा क्योंकि अन्त:करणादि विशेषणों का नाश होने पर उनसे विशिष्ट जीव का भी नाश हो जायेगा। तब यह पहचान कौन करेगा कि समान नाम रूप वाला वह ही विशेषण इस समय है। अत: जीव के नष्ट हो जाने पर भी उस समय एक मात्र प्रत्यगात्मा ही होगी, जो अपरिवर्तित रूप से प्रलय से पूर्व भी था और सृष्टि होने पर भी। अत: वह प्रत्यगात्मा ही यह पहचान करेगा कि समान नाम रूप वाला वह ही विशेषण इस समय है। इससे प्रत्यगात्मा में ही ज्ञातृत्व सिद्ध होता है। प्रत्यगात्मा में ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर प्रत्यगात्मा का ही अज्ञातृत्व भी सिद्ध होता है क्योंकि ज्ञातृत्व और

अज्ञातृत्व ये दोनों सापेक्ष हैं। प्रत्यगात्मा में ज्ञान से पहले अज्ञान था तब ही उसे विशेषणों का ज्ञान हुआ। भेददृष्टि का कारण अर्थात् अज्ञान का आश्रय प्रत्यगात्मा में होने के कारण उपाधि की विशिष्टता के द्वारा प्रत्यगात्मा का ही साधकत्व भी सिद्ध होता है क्योंकि अज्ञान से विशिष्ट ही कर्ता या साधक होता है और प्रत्यगात्मा अज्ञान की उपाधियों कर्ता, भोक्तादि से विशिष्ट होकर ही साधक होता है। चूँकि आत्मा बदलता नहीं अर्थात् जीव की भाँति नष्ट नहीं होता अत: जो अज्ञान से विशिष्ट प्रत्यगात्मा कर्म करेगा वही अज्ञान से विशिष्ट प्रत्यगात्मा फल भी भोगेगा। इस प्रकार प्रत्यगात्मा का ही फलित्व सम्भव होने से ऊपर कहा गया 'अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश' दोष भी नहीं होगा। ब्राह्मणादि शरीर से विशिष्टता के द्वारा आत्मा का कर्माधिकारित्व होने से, ब्राह्मणादि शरीर से विशिष्टता के द्वारा ही आत्मा का भोक्तृत्व भी होने पर ऊपर कहा गया 'अकृताभ्यागम और कृतप्रणाश' दोष भी उत्पन्न नहीं होता। अत: ब्रह्म ही अपने अज्ञान से संसरण करता है और अपने ज्ञान से मुक्त होता है। यदि यहाँ पूर्वपक्षी यह आक्षेप करे कि ब्रह्म का साधकत्व या कर्माधिकारित्व सिद्ध होने पर एक तरफ ब्रह्म की मूढता सिद्ध होती है और दूसरी तरफ 'अद्वयानन्द ब्रह्म मूढ है' इत्यादि अनुभव का अभाव पाया जाता है तो ब्रह्म का साधकत्व या कर्माधिकारित्व श्रुति विरूद्ध सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि 'अद्वयानन्द ब्रह्म मूढ है' इत्यादि अनुभव का अभाव रूप दोष नहीं होता क्योंकि प्रत्यग्रूप में ब्रह्म के मूढत्व, साधकत्वादि को कहने वाले वचनों की प्राप्ति होती है। पुन: यदि पूर्वपक्षी यह आक्षेप करे कि हम लोगों की तरह ब्रह्म में साधकत्व की कल्पना करना तो उचित नहीं है। तब भाष्यकार शंकराचार्य कहते हैं कि- 'ब्रह्म का इष्ट करने की इच्छा वाले पुरूष को शास्त्र के अर्थ से विपरीत कल्पना करके उसके अर्थ का परित्याग नहीं करना चाहिये'[1] अर्थात् यदि आप वास्तव में ब्रह्म का इष्ट करने की इच्छा रखते हैं तो ब्रह्मप्रमाणक शास्त्रों के अर्थ की विपरीत कल्पना न

[1] "न च ब्रह्मण इष्टं चिकीर्षुणा शास्त्रार्थविपरीतकल्पनया स्वार्थपरित्याग: कार्य:"- १/४/१०,बृ.उ.भा., पृ०-२५८

करके शास्त्र जो कह रहा है, उसे ही स्वीकार कीजिये। शास्त्र स्वयं ब्रह्म में साधकत्व को कह रहा है कि 'उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ और वह सर्व हो गया'।[1] अत: किसी को भी ब्रह्म में साधकत्व मानने पर समस्या नहीं होनी चाहिये। इसी बात को वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है कि-

"ब्रह्म में साधकत्व की प्रकल्पना में ऐसा क्या दोष है, जिसके प्रति आप अक्षमाशील हो रहे हैं। क्या आप नहीं देखते हैं कि समस्त संसार मुझमें अज्ञान द्वारा ही कल्पित है"[2] अर्थात् पूर्वपक्षी को यह कहा जा रहा है कि ब्रह्म में साधकत्व की कल्पना में ऐसा कोई दोष नहीं है, अत: उन्हें भी इसे स्वीकार करना ही चाहिये क्योंकि संसार में प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि आत्मा में ही अज्ञान है और उस अज्ञान में ही यह समस्त जगत् कल्पित है।

मूल ग्रन्थ (५)-

तस्माद् ब्रह्मैव संसरति ब्रह्मैव मुच्यते, न तु जीवानां ज्ञानाज्ञानसम्बन्ध: , बन्धमोक्षान्वयो वा । (एतेन) अज्ञानकल्पितानामज्ञानकल्पितभेदानां वा प्रतिबिम्बकल्पनां वा बिम्बस्थानीये ब्रह्मणि अज्ञानमिति पक्षस्य निरस्तत्वात्। यत्तु –

"पराक्प्रवणया दृष्टया धीस्थो ज्ञोऽज्ञानमात्मनि।

व्योमकाष्ण्यर्यादिवत्तत् [त्तज्जं] संभावयति न स्वत:" ॥

इति धीस्थस्याज्ञानमुक्तम्, तदन्त:करणोपाधिकस्य स्वकारणाज्ञानप्रत्यभिज्ञाव्यंजकत्वाभिप्रायेण, नाज्ञानस्य जीवाश्रयत्वाभिप्रायेण । प्रत्यग्चैतन्याश्रयमेव ह्यज्ञानं जीव: स्वगतत्वेनाभिव्यनक्ति, व्यंजकानां बहूनामेवस्वभावत्वात्, तथा हि शाबलेयादय: पिण्डा: सर्वगतमपि गोत्वं स्वगतत्वेनैव व्यंजयन्ति 'शाबलेयो गौ:, बाहुलेयो गौ:, मुण्डो गौ:' इति। तथा ह्रस्वदीर्घप्लुतादयो: ध्वनिभेदा:

---

[1] " ब्रह्म वा इदमग्रासीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्"- १/४/१०,बृह.उ., पृ०-२४३

[2] "अक्षमा भवत: केयं साधकत्वप्रकल्पने। किं न पश्यति संसारं मय्येवाज्ञानकल्पितम्"।।१२७९॥– बृ.उ.भा.वा.

करणाभिव्यक्तिद्वारेण शब्दमपि व्यंजयन्त: स्वगतत्वेनैवाभिव्यंजयन्ति ह्रस्वोऽकारो दीर्घोऽकारो इत्यादि । तथा मणिकृपाणदर्पणादयो मुख्यस्याभिव्यंजका: स्वगतत्वेनैव मुख्यभिव्यंजयन्ति । तस्मादभिव्यंजकानां बहूनामयमेव स्वभावो लोके समधिगत:, यदुताभिव्यङ्गयं स्वगतत्वेनाभिव्यंजयन्ति इति । तस्मादन्त:करणस्य तदुपाधिकजीवस्य वाज्ञानाश्रयत्वाभावेऽपि प्रत्यगात्माश्रयाज्ञानाभिव्यंजकत्वाद्युक्तमेव तद्गतत्वेनाज्ञानस्य स्फुरणम् ' अहं न जानामीदम्' इति।अस्ति चान्त:करणस्य तदुपाधिजीवस्य वाज्ञानाभिव्यञ्जकत्वम्, तदभावे सुषुप्त्यादौ प्रत्यगात्माश्रयस्याज्ञानस्य प्रतीयमानत्वेऽपि स्फुटतरप्रतीत्यभावात्, तद्भावे च जागरिते स्फुटतरप्रतीते: , उक्तं च वार्तिककारैरन्त:करणादेरज्ञानस्याभिव्यंजकत्वम् ।

" बाह्यां वृत्तिमनुत्पाद्य व्यक्ति: स्यान्नाहमो यथा ।

नर्तेऽन्त:करणं तद्वद्ध्यान्तस्य व्यक्तिराञ्जसी" ॥ इति ।

अनुवाद (५)-

अत: पुन: सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही संसरण करता है तथा ब्रह्म ही मुक्त होता है, न कि जीवों का ज्ञान और अज्ञान से सम्बन्ध है, न ही बन्धन- मोक्ष से सम्बन्ध है । इन अज्ञान कल्पित तत्त्वों या अज्ञान कल्पित भेदों और प्रतिबिम्बों के बिम्ब रूप ब्रह्म में ही स्थित रहने से अज्ञान भी ब्रह्म में ही रहता है, इस प्रकार अन्य पक्षों के निरस्त होने से यह सिद्ध होता है । सुरेश्वराचार्य के द्वारा भी कहा गया है –

"आत्मा में अज्ञान में ही बुद्धि में स्थित जीव बाह्य सत्ता को देखने से जाना जाता है । आकाश में नीलेपन की कल्पना करने के समान अज्ञान में जीव की कल्पना की जाती है, न कि आत्मा में" । इस प्रकार बुद्धि में स्थित अज्ञान को बताया गया है । वह अन्त:करण रूप उपाधि वाला जीव स्वयं की उत्पत्ति के कारण अज्ञान को प्रकाशित करने के अभिप्राय से (होता है), न कि जीव में अज्ञान के आश्रय को बताने के अभिप्राय से । प्रत्यक्चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय है,

जीव तो अपने में स्थित अज्ञान की प्रक्रिया से उसको (अज्ञान को) अभिव्यक्त मात्र करता है क्योंकि बहुत से व्यञ्जकों का इस प्रकार का स्वभाव होता है। जैसे- चितकबरा पिण्ड़ अपने में स्थित गोत्व की प्रक्रिया से सभी पिण्डों में स्थित गोत्व तत्त्व को अभिव्यक्त करता है, 'चितकबरी गाय', 'भिन्न-भिन्न रंगों की गाय', 'बिना सींग की गाय' इस प्रकार। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतादि ध्वनि भेद भी करण रूप अभिव्यक्ति द्वार से शब्द को अभिव्यञ्जित करते हुये अपने में स्थित शब्द की प्रक्रिया के द्वारा ही ह्रस्व अकार, दीर्घ अकार और प्लुत अकार को भी अभिव्यक्त करते हैं। मुख के अभिव्यञ्जक मणि, कृपाण और दर्पणादि भी अपने में स्थित मुख से ही, मुख को अभिव्यञ्जित करते हैं। अत: लोक में बहुत से अभिव्यञ्जकों का यही स्वभाव प्राप्त होता है, जो कि अभिव्यङ्ग्य विषय को अपने में स्थित करके ही अभिव्यक्त करते हैं। इसलिये अन्त:करण और अन्त:करण में प्रतिबिम्बित जीव का ज्ञानाज्ञान आश्रयत्व न होने पर भी प्रत्यगात्मा में आश्रित अज्ञान का अभिव्यञ्जकत्वादि कहा गया है। उसमें स्थित अज्ञान का ही स्फुरण है कि 'मैं इसे नहीं जानता' इस प्रकार की अभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है। अन्त:करण और अन्त:करण में प्रतिबिम्बित जीव अज्ञान का अभिव्यञ्जक ही होता है क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में उसके (जीव के) अभाव में प्रत्यगात्मा में आश्रित अज्ञान के विद्यमान होने पर भी उसका स्फुटतर रूप से प्रतीति का अभाव होता है। जाग्रतावस्था में उसका (जीव का) भाव होने पर अज्ञान की स्फुटतर रूप से प्रतीति होती है। वार्तिककार के द्वारा भी अन्त:करणादि को अज्ञान का अभिव्यञ्जक ही कहा गया है-

"जिस प्रकार बिना बाह्य वृत्ति के उत्पन्न हुये व्यक्ति को 'मैं हूँ' यह ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार अन्त:करण के बिना अज्ञान की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति नहीं हो सकती"।

विश्लेषण (५)-

अत: पुन: सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही संसरण करता है, ब्रह्म ही मुक्त होता है। अर्थात् यदि जीव में अज्ञानादि का आश्रय होता तो यह कहा जाता कि जीव ही संसरण करता है, जीव ही मुक्त होता है। परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं कहा जाता। इसलिये ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि जीवों का ज्ञान और अज्ञान से सम्बन्ध अर्थात् आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध नहीं है, न ही बन्धन- मोक्ष से कोई सम्बन्ध है। ब्रह्म ही अपने अज्ञान से कल्पित जगत् में बन्धता है और ज्ञान होने पर मुक्त भी हो जाता है। उसका संसरण तो लिङ्गशरीर के द्वारा होता है, किन्तु उसकी मुक्ति स्वाभाविक होती है अर्थात् उपाधि विशिष्ट में संसरण नहीं माना जाता अपितु उपाधि के योग से शुद्ध ब्रह्म में ही संसरण मानते हैं, मुक्ति भी उसी में है। अन्तर केवल इतना है कि बन्धन औपाधिक और मुक्ति स्वाभाविक होती है।[1] इस प्रकार अन्य सभी पक्षों के निरस्त होने से यह सिद्ध होता है कि अज्ञानकल्पित सभी तत्त्वों या अज्ञान कल्पित भेदों और अज्ञान में कल्पित प्रतिबिम्बों का आश्रय बिम्ब रूप ब्रह्म में ही रहने से अज्ञान भी ब्रह्म में ही रहता है। इसी के समर्थन में सुरेश्वराचार्य के द्वारा कहा भी गया है –

आत्मा में रहने वाला अज्ञान, बुद्धि में स्थित जीव के द्वारा बाह्य सत्ता को देखने से जाना जाता है अर्थात् जीव की उत्पत्ति अज्ञान से ही होती है, अत: जीव कार्य और अज्ञान कारण हुआ। अज्ञान का स्वरूप बतलाते हुये स्वयं शंकराचार्य कहते हैं कि अज्ञान अपने कार्यों से अनुमेय है अर्थात् जाना जाता है।[2] जब जीव बाह्य सत्ता के साथ अपने कार्य-कलाप करता है, तब उसके कार्य-कलापों को देखकर यह जाना जाता है कि अज्ञान भी यहीं है, अर्थात् जीव अज्ञान का

---

[1] "ब्रह्मैव संसरति मुच्यत एतदेव दौवारिकं भवति संसरणं तु तस्य। मुक्ति: पुनर्भवति विद्वपुषैव तस्य स्वाज्ञानत: स्वमहिमप्रतिषेधतश्च" ॥८॥जीवस्यसंसरणनिरूपणम्, स.शा., पृ०-४१८

[2] "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते" ॥ ११०॥ वि.चू., पृ०-३२

प्रकाशक है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि जीव अज्ञान का कार्य है और जो अज्ञान का कार्य है, वह अज्ञान का आश्रय कभी भी नहीं हो सकता। युक्तिनिपुण आचार्य जीवत्व को अज्ञान की आश्रय कोटि में नहीं कराना चाहते क्योंकि वह बनता ही नहीं है। जीव अज्ञानमय ही है, अज्ञान कभी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। इसलिये अज्ञान का आश्रय आत्मा को मानने में कोई विरोध नहीं है।[1] जीव तो अज्ञान का उत्पाद है। जीव और अज्ञान में उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है, न कि आश्रय-आश्रयी। जिस प्रकार आकाश में नीलेपन की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार अज्ञान में जीव की कल्पना की जाती है।[2]

इस प्रकार बुद्धि में स्थित अज्ञान के कार्य अर्थात् जीव को प्रकाशक बताया गया है। यदि कोई यह शंका करें कि जब जीव अज्ञान का आश्रय नहीं है तो जीव के होने का क्या प्रयोजन है तो ग्रन्थकार जीव के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जीव अज्ञान का आश्रय तो नहीं होता परन्तु अन्त:करण में प्रतिबिम्बित यह जीव अज्ञान को प्रकाशित करने के अभिप्राय से उपयोगी कहा गया है। प्रत्यक्चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय है, जीव तो अपने में स्थित प्रक्रिया द्वारा अज्ञान को अभिव्यक्त मात्र करता है। संसार में बहुत से व्यञ्जकों का इस प्रकार का स्वभाव देखा जाता है। जैसे- चितकबरा पिण्ड अपने में स्थित गोत्व सम्बन्धी प्रक्रिया से सभी गौ पिण्डों में स्थित गोत्व जाति को अभिव्यक्त करता है, तब अभिव्यक्त गोत्व के कारण 'चितकबरी गाय', 'भिन्न-भिन्न रंगों की गाय', 'बिना सींग की गाय' इस प्रकार नामों से कहा जाता है। इसके अतिरिक्त ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतादि ध्वनि भेद भी जिह्वा, कण्ठ, ताल्वादि करण रूप अभिव्यक्ति द्वार से शब्द को अभिव्यञ्जित करते हुये अपने में स्थित शब्द की प्रक्रिया के द्वारा ही ह्रस्व अकार,

---

[1] "जीवत्वमेव तु तदाश्रयमध्यपाति नेच्छन्ति युक्तिकुशला न हि युज्यते तत्। अज्ञानमेव खलु तन्न तमस्तमस्वि चैतन्यवस्तु पुनरस्तु न तद्विरोध:" ॥१५॥- जीवस्य संसरणनिरुपणम्, स.शा., पृ०-४२१

[2] "पराक्प्रवणया दृष्टया धीस्थो ज्ञोऽज्ञानमात्मनि। व्योमकाष्ण्यर्यादिवत्तत् [त्तज्ज] संभावयति न स्वत:" ॥-१/४/२५८, बृ.उ.भा.वा.

दीर्घ अकार और प्लुत अकार को भी अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् अकार तो एक ही है, जो कि अभिव्यक्त नहीं है, परन्तु भिन्न-भिन्न ध्वनि भेदों के द्वारा ही यह अकार भिन्न-भिन्न रूप में अर्थात् ह्रस्व अकार, दीर्घ अकार और प्लुत अकार के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है तथा मुख के अभिव्यञ्जक मणि, कृपाण और दर्पणादि भी मुख को अपने में स्थित करके ही अभिव्यञ्जित करते हैं। अत: लोक में बहुत से अभिव्यञ्जकों का यही स्वभाव प्राप्त होता है, जो कि अभिव्यङ्ग्य विषय को अपने में स्थित करके ही अभिव्यक्त करते हैं। इसलिये अन्त:करण और जीव का प्रत्यगात्मा में आश्रित अज्ञान का अभिव्यञ्जकत्व कहा गया है। जीव भी अज्ञान को अपने में स्थित करके ही उसको प्रकाशित करता है। जब व्यक्ति व्यवहार में कहता है कि 'मैं इसे नहीं जानता' तब यह जीव में स्थित अज्ञान का ही स्फुरण या अभिव्यक्ति होती है। अन्त:करण और जीव का अज्ञान अभिव्यञ्जकत्व ही होता है, तभी तो सुषुप्ति अवस्था में जीव और अन्त:करण के अपने कारण अज्ञान में लय हो जाने पर उनके अभाव में अज्ञान की स्फुटतर रूप से प्रतीति नहीं होती जबकि अज्ञान प्रत्यगात्मा में विद्यमान ही रहता है। उस समय अज्ञानादि की प्रतीति नहीं होती, उसका कारण यह है कि उस समय उनका अभिव्यञ्जक नहीं है तथा जाग्रतावस्था में पुन: जीव का भाव होने पर अर्थात् जीवत्व के प्रकट होने पर अज्ञान की भी स्फुटतर रूप से प्रतीति होती है। वार्तिककार के द्वारा भी अन्त:करणादि का अज्ञान अभिव्यञ्जकत्व ही कहा गया है। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि-

जब तक बाह्य वृत्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक व्यक्ति को 'मैं हूँ' इस प्रकार के अहंकार का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार अन्त:करण रूप अभिव्यञ्जक के बिना अज्ञान की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।[1]

[1] " बाह्यां वृत्तिमनुत्पाद्य व्यक्ति: स्यान्नाहमो यथा। नर्तेऽन्त:करणं तद्वद्ध्यान्तस्य व्यक्तिराञ्जसी" ॥ ३/५८॥, नै.सि., पृ०- ११४।

मूल ग्रन्थ (६)-

यदपि गीतासु क्षेत्रज्ञाध्याये स्थित्वा भाष्यकारेण करणस्याज्ञानित्वमुक्तम्, तदपि प्रत्यगात्मनोऽज्ञानित्वस्य परमार्थत्वापवादार्थम्, न त्वन्त:करणस्याज्ञानित्वसमर्थनार्थ, प्रत्यगात्मनोऽज्ञानित्वस्य परमार्थत्वे प्राप्तेऽज्ञानाभिव्यञ्जकस्य करणस्य तदज्ञानमिति तस्य मस्तके तद्धि क्षिपति, प्रत्यगात्मनस्तु तत्सम्बन्धो मा भूदिति; न त्वन्त:करणस्याज्ञानसम्बन्धो विवक्षित:, सांड्ख्यसिद्धान्तस्वीकारप्रसंड्गात्, भाष्यान्तरविरोधाच्च । तस्माद्भगवत्पादीये दर्शने प्रत्यगात्मन एव ज्ञानित्वमज्ञानित्वं च । तदुक्तमिष्टसिद्धिकारै: -

" स्वरुक च भाति यत्तत्र ज्ञानाज्ञानविभागधी: ।

अतोऽविद्या भवेद्यस्य भवेत्तद्विषयैव सा" ॥ इति।

अनुवाद (६)-

जो यह गीता में क्षेत्रज्ञ अध्याय में भाष्यकार के द्वारा अन्त:करण का अज्ञानित्व कहा गया है, वह भी प्रत्यगात्मा के परमार्थस्वरूप को ध्यान में रखते हुए अज्ञानित्व के अपवाद को कहा गया है, न कि अन्त:करण का अज्ञान है- उसके समर्थन के लिये कहा गया है । प्रत्यगात्मा का अज्ञानित्व पारमार्थिक रूप से प्राप्त होने पर अज्ञान के अभिव्यञ्जक अन्त:करणादि का वह अज्ञान है- इस प्रकार वही बात उपस्थित होती है । प्रत्यगात्मा का उस अज्ञान से सम्बन्ध न हो, इसलिये अन्त:करण का अज्ञान से सम्बन्ध नहीं कहा गया है, क्योंकि उस परिस्थिति में सांख्यसिद्धान्त को स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित होने से और भाष्यान्तर विरोध होने से समस्या उत्पन्न होगी । अत: भाष्यकार शंकराचार्य ने प्रत्यगात्मा के ही ज्ञानित्व और अज्ञानित्व को माना है । इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मन् ने भी कहा है कि-

"जब वस्तु प्रकाशित होती है, तब ज्ञान और अज्ञान रूप भेद बुद्धि होती है । अत: जिसकी अविद्या हो, वही उसका विषय भी हो" ।

विश्लेषण (६)-

प्रत्यगात्मा के अज्ञानाश्रयत्व के सम्बन्ध में कोई शंका न रह जाये इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि गीता के तेरहवें क्षेत्रज्ञ अध्याय में भाष्यकार शंकराचार्य के द्वारा जो अन्त:करण का अज्ञानित्व कहा गया है[1], उसका तात्पर्य कदापि यह नहीं समझना चाहिये कि भाष्यकार ने अन्त:करण को अज्ञानी कह कर उसे अज्ञान का आश्रय स्वीकार किया है । वहाँ अन्त:करण को अज्ञानी कहने का तात्पर्य है कि वह अज्ञान का कार्य है और अज्ञान का कार्य होने से सत्कार्यवाद के अनुसार अन्त:करण भी अज्ञान रूप ही हुआ । शंकराचार्य कार्य और कारण को दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं मानते । उनका कहना है कि व्यक्त होने की पूर्व की अवस्था और व्यक्त होने की पश्चात् की अवस्था है, उनका परस्पर भेद सापेक्ष है । कारण और कार्य मूल रूप में एक ही हैं । जो कुछ भी भिन्न होता है, वह आकृति का परिवर्तन मात्र होता है।[2] अत: अज्ञान का कार्य होने के कारण अन्त:करण का अज्ञानित्व कहा गया है जबकि प्रत्यगात्मा का अज्ञानित्व पारमार्थिक रूप से प्राप्त होने के कारण कहा गया है अर्थात् पारमार्थिक रूप से अज्ञान का आश्रय होने से प्रत्यगात्मा का अज्ञानित्व कहा गया है । शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में कहा है कि अज्ञान परमेश्वर की शक्ति है, न कि उससे भिन्न है।[3] यह भी नहीं समझना चाहिये कि अन्त:करण का अज्ञान से सम्बन्ध इसलिये कहा गया है ताकि प्रत्यगात्मा का उस अज्ञान से सम्बन्ध न समझा जाये अर्थात् सांख्य दर्शन में आत्मा या पुरुष को असङ्ग मानने के कारण अज्ञान से सर्वथा असम्बद्ध कहा गया है और अन्त:करण को अज्ञानी कहा गया है । अत: शंकराचार्य के कथन का यह अर्थ भी नहीं लगाना चाहिये कि वे आत्मा को अज्ञान से असम्बद्ध सिद्ध करने के लिये अन्त:करण का

---

[1] १३/२, गी.शां.भा. ,पृ०-१०६

[2] शं. अ. वे., पृ० -१४९

[3] "अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा । कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते" ॥ ११०॥ वि.चू., पृ०-३२

अज्ञानित्व कह रहें हैं। यदि ऐसा मान लिया जाये तो सांख्यसिद्धान्त को स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा, जो अद्वैतवादियों को कदापि मान्य नहीं है क्योंकि दूसरे भाष्यों में अर्थात् ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में स्वयं शंकराचार्य ने सांख्य के इस मत का विरोध किया है। अत: भाष्यकार शंकराचार्य ने प्रत्यगात्मा के ही ज्ञानित्व और अज्ञानित्व को ही माना है, न कि सांख्यसिद्धान्त की तरह आत्मा को इनसे पृथक माना है। इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मन् ने भी कहा है कि-

जब वस्तु प्रकाशित होती है, तब ज्ञान और अज्ञान रूप भेद बुद्धि होती है। अत: जिसकी अविद्या हो, वही उसका विषय भी हो।[1] तात्पर्य यह है कि जो अज्ञान का आश्रय होता है, वह ही अज्ञान का विषय भी होता है। अत: अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है तथा अज्ञान का विषय भी ब्रह्म ही है।

मूल ग्रन्थ (७)-

तस्मात् साभासप्रत्यगज्ञानमेव परमात्मन: क्षेत्रक्षेत्रज्ञात्मकजगत्कारणत्वे द्वारम्। तत्राज्ञानवतिकश्चि [र्तिचि] दाभासप्रधानद्वारावष्टम्भेन क्षेत्रज्ञकारणत्वम्, अज्ञानप्रधानद्वारमादाय क्षेत्रकारणत्वम्। तदुक्तम्—

"तम: प्रधानं क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम्।
पर: कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभि:" ॥ इति।

अत्र क्षेत्रज्ञशब्देन पुर्यष्टकोपाधिपतितचिदाभासग्रहणम्। कर्मेन्द्रियपञ्चकम्, बुद्धीन्द्रियपञ्चकम्, अन्त:करणचतुष्टयम्, प्राणादिपञ्चकम्, भूतपञ्चकम्, अविद्या, काम:, कर्म- इति पुर्यष्टकम्।

"कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि,
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च।

[1] " स्वरुक च भाति यत्तत्र ज्ञानाज्ञानविभागधी:। अतोऽविद्या भवेद्यस्य भवेत्तद्विषयैव सा" ॥६/८॥, इ.सि.।

प्राणादिपंचकमथो वियदादिकं च,

कामश्च कर्मा च तम: पुनरष्टमी पू:" ॥

अविद्येति मिथ्याज्ञानम् अविद्याकार्यप्रकरणात् । अत्र तमोग्रहणमविद्यावृत्तमेतत्परमात्मन: । (विद्यावृत्तं तु) पूर्वोक्तमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य सर्वज्ञात्मन: कृतौ पञ्चप्रक्रियाख्यं प्रकरणं समाप्तम् ॥

अनुवाद (७)-

अत: प्रत्यगात्मा का प्रतिबिम्ब सहित अज्ञान ही क्षेत्र और क्षेत्रात्मक जगत् का कारण होने से ब्रह्म के जड़-चेतन जगत् के रूप में भासित होने का द्वार है। वह अज्ञानवृत्तिक चिदात्मा प्रतिबिम्ब की प्रधानता से क्षेत्रज्ञ का कारण है तथा अज्ञान की प्रधानता से क्षेत्र का कारण है। कहा भी गया है कि-

"अज्ञान क्षेत्रों और चैतन्य रूप क्षेत्रज्ञों का प्रधान कारण है। परम ब्रह्म भावना, ज्ञान और कर्म के द्वारा कारण है"।

यहाँ क्षेत्रज्ञ शब्द से पुर्यष्टक उपाधि से युक्त चैतन्य के प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है। पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ, अन्त:करणचतुष्टय, पञ्चप्राण, पञ्चभूत, अविद्या, कामना और कर्म- यह पुर्यष्टक कहा गया है। कहा भी गया है कि-

"पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ, मनादि चार अन्त:करण, पञ्चप्राण, पञ्चभूत, तम, कामना और कर्म- इन आठ से मिलकर पुर्यष्टक बनता है"।

अविद्या के कार्यों से अभिव्यक्त होने से, अविद्या मिथ्याज्ञान है। यहाँ तम का ग्रहण अविद्या के लिये हुआ है, जो कि परमात्मा का है। विद्या को पहले बताया जा चुका है।

विश्लेषण (७)-

अत: प्रतिबिम्बित प्रत्यगात्मा में आश्रित अज्ञान ही क्षेत्र और क्षेत्रात्मक जगत् का कारण होने से परमात्मा का द्वार है। वह अज्ञानवृत्तिक चिदात्मा प्रतिबिम्ब की प्रधानता से और गति से क्षेत्रज्ञ का कारण है तथा अज्ञान की प्रधानता से क्षेत्र का कारण है। कहा भी गया है कि- अज्ञान क्षेत्रों और चैतन्य रूप क्षेत्रज्ञों का प्रधान कारण है। परम ब्रह्म भावना, ज्ञान और कर्म के द्वारा कारण है।[1] यहाँ क्षेत्रज्ञ शब्द से पुर्यष्टक उपाधि से युक्त चैतन्य के प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है। पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ, अन्त:करणचतुष्टय, पञ्चप्राण, पञ्चभूत, अविद्या, कामना और कर्म- यह पुर्यष्टक कहा गया है। सर्वज्ञात्मन् ने संक्षेपशारीरक में भी कहा है कि-

(1) पञ्चकर्मेन्द्रियाँ (2) पञ्चबुद्धीन्द्रियाँ (3) अन्त:करण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) (4) पञ्चप्राण (5) पञ्चभूत (6) तम (7) कामना (8) कर्म (धर्माधर्मादि) ये अष्ट पुरि हैं। इनसे मिलकर (पुरि + अष्टक) पुर्यष्टक बनता है।[2] आठ पुरियों के कारण ही जीव दु:खी होता है। यहाँ तम का ग्रहण अविद्या के लिये हुआ है, अविद्या मिथ्याज्ञान है। यहाँ पुर्यष्टक से तात्पर्य सूक्ष्मशरीर नहीं समझना चाहिये। पुर्यष्टक जीवभाव की वैसी उपाधि नहीं कि मोक्ष-पर्यन्त एक ही बना रहे। यह तो प्रत्येक जन्म में परिवर्तित होता रहता है जबकि सूक्ष्मशरीर मोक्ष- पर्यन्त एक सा बना रहता है।

इस प्रकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य सर्वज्ञात्मन् कृत पञ्चप्रक्रिया नामक प्रकरणग्रन्थ समाप्त।

[1] "तम: प्रधानं क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् । पर: कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभि:"- १/४/३४२, बृ.उ.भा.वा

[2] "कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि, बुद्धीन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च। प्राणादिपंचकमथो वियदादिकं च, कामश्च कर्मा च तम: पुनरष्टमी पू:" -३/१६, स.शा., पृ०-४२१

उपसंहार

वैदिक संस्कृति के ज्ञान रूपी दीपक को प्रज्ज्वलित रखने में वेदान्त दर्शन का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । वेदान्त में भी अद्वैत-वेदान्त ने भारतीय वाङ्मय को समृद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया है । अद्वैत-वेदान्त में शंकराचार्य के चिन्तन की, जो प्रौढ़ता और गम्भीरता पाते हैं, वह प्राच्य और पाश्चात्त्य दर्शनों में दुर्लभ है । अद्वैत-वेदान्त का उद्देश्य विविधता में व्याप्त मूलभूत एकता को प्रतिपादित करना है । इसी दर्शन के एक प्रसिद्ध आचार्य सर्वज्ञात्ममुनि ९०० ई० में हुये, जिनका दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य भी था । इनके द्वारा रचित तीन कृतियों में से संक्षेपशारीरक बहुत प्रसिद्ध है । इसके अतिरिक्त पंचप्रक्रिया नामक प्रकरण ग्रन्थ भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, जो कि महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण के सिद्धान्तों से सम्बन्धित है । भाषा न केवल विचार विनिमय का साधन है, अपितु भाषा के द्वारा ही समस्त ज्ञान और अज्ञान की प्राप्ति भी होती है । भाषा समस्त प्रेयस् पदार्थों को प्रदान करने के साथ ही पारमार्थिक श्रेयस् को भी प्रदान करती है । पञ्चप्रक्रिया नामक यह ग्रन्थ बताता है कि भाषा महावाक्यों के वास्तविक अर्थ को प्रकाशित करके ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान का नाश करके मोक्ष रूपी परम पुरुषार्थ को भी प्रदान करती है । शोधार्थिनी ने अपना लघु शोध-प्रबन्ध कार्य इसी प्रकरण ग्रन्थ पर किया है । इस लघु शोध कार्य के क्रम में, जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उन सभी को निष्कर्ष रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

- पञ्चप्रक्रिया नामक इस ग्रन्थ में तीन प्रकार की शब्दवृत्तियों का वर्णन किया गया है – प्रसिद्धि, लक्षणा और गुणवृत्ति । पद और उसके अर्थ को बताने वाले सम्बन्ध को वृत्ति कहा गया है ।
- प्रसिद्धि, शब्द से मुख्यावृत्ति को कहा गया है । इसे ही शक्ति और अभिधा वृत्ति भी कहा जाता है । जिस अर्थ का वाचक पद के रूप में वृद्धव्यवहार में प्रयोग होता है, वह शब्द

(वाचक) शक्तियुक्त होता है। उसका (शब्द का) उसी प्रयोजक कर्ता के द्वारा उसी अर्थ में जो वृत्ति (सम्बन्ध) होती है , उसे ही मुख्या वृत्ति कहते हैं।

- लक्षणा वृत्ति, मुख्यार्थ के ग्रहण में प्रमाणान्तर से विरोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरे अर्थ को प्रकट करने वाली वृत्ति है।
- गुणवृत्ति, मुख्यार्थ के ग्रहण में प्रमाणान्तर से विरोध होने पर मुख्यार्थ के गुणों से युक्त दूसरे अर्थ को बताने वाली वृत्ति होती है। इसे ही गौणी वृत्ति भी कहा गया है।
- लक्षणा और गुण- इन दोनों ही वृत्तियों में अन्य अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है, यह समानता तो दोनों में है परन्तु दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से ये दोनों भिन्न-भिन्न वृतियाँ मानी गई हैं । गुणयोग से गुणवृत्ति मानी जाती है तथा सम्बन्धमात्र से लक्षणावृत्ति मानी जाती है अर्थात् जहाँ वाक्य में आधाराधेय सम्बन्ध होता है, वहाँ पर लक्षणा की प्रवृत्ति होती है तथा गुण-गुणी सम्बन्ध होने पर गौणी वृत्ति की प्रवृत्ति होती है।
- लक्षणा वृत्ति तीन प्रकार की कही गई है- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजल्लक्षणा।
- जहल्लक्षणा- वाच्यार्थ का पूर्णरूप से परित्याग करके वाच्यार्थ से सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहल्लक्षणा' कहलाती है। इसको 'लक्षण लक्षणा' भी कहा जाता है।
- अजहल्लक्षणा- वाच्यार्थ का बिना परित्याग किए हुए वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति 'अजहल्लक्षणा' कहलाती है। इसे ही 'उपादान लक्षणा' भी कहते हैं।
- जहदजहल्लक्षणा- वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा वाच्यार्थ के एक भाग का

परित्याग कर दिया जाता है और एक भाग का ग्रहण कर लिया जाता है। एक भाग का परित्याग करने से इसे 'भागत्याग लक्षणा' और भाग मात्र को ग्रहण करने से 'भागलक्षणा' भी कहते हैं।

- प्रत्यगात्मा अर्थ को बतलाने में मुख्यवृत्ति को छोड़कर गौणी और लक्षणा वृत्ति का अप्रतिषेध कहा है अर्थात् स्वीकृति कही गई है।
- प्रत्यगात्मा अर्थ को बतलाने में जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा सक्षम नहीं है। मात्र 'जहदजहल्लक्षणा' के द्वारा ही प्रत्यगात्मा का ज्ञान सम्भव है।
- लक्षणा से आत्मा को जानने पर कर्मत्व-प्रसङ्ग नहीं होता है क्योंकि शास्त्र (भाषा) केवल प्रत्यगात्मा में अविद्याध्यारोपित अतद्धर्मों का निवारण मात्र करता है, न कि उसे (आत्मा को) कर्म बनाता है।
- "अहं ब्रह्मास्मि" महावाक्य के अर्थ का ज्ञान 'अहं और ब्रह्म' इन दो पदों के अर्थों के ज्ञान से होता है। इन दो पदों के अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं – वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। वाच्यार्थ विशेषणयुक्त (मिश्रित) तथा लक्ष्यार्थ शुद्ध होता है।
- अहं शब्द का वाच्यार्थ है- चींटी से लेकर दैवतापर्यन्त कार्यरूप प्राणपिण्डात्मक (शरीर से विशिष्ट) प्रत्यक्चैतन्य तथा ब्रह्म शब्द का वाच्यार्थ है- कारणरूप प्राणपिण्डात्मक अविद्याविशिष्ट अद्वयानन्द चैतन्य।
- इन दोनों अहं तथा ब्रह्म पदार्थों का सामानाधिकरण्य तथा विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है परन्तु "अहं ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य में 'अहं' तथा 'ब्रह्म' पदों के वाच्यार्थ का परस्पर प्रत्यक्षादिप्रमाणों से विरोध होने के कारण एकनिष्ठता का अभाव होने से न तो विवक्षित सामानाधिकरण्य ही उपपन्न होगा और न दोनों पदार्थों में परस्पर विशेषणविशेष्यभाव ही उपपन्न हो सकेगा।

- अत: भागत्याग लक्षणा के द्वारा पदनिष्ट और वाक्यनिष्ट विरूद्धांश का व्यावर्तन होने पर सामानाधिकरण्य और विशेषणविशेष्यभाव दोनों ही उपपन्न हो जाते हैं । अर्थात् यह कहा गया है कि प्रमाणान्तर से विरोध स्फुरित होने पर जहदजहल्लक्षणा द्वारा 'अहं' पद के वाच्यार्थ में से विरुद्धांश 'प्राणपिण्डात्मककार्यसद्वितीय' भाग का परित्याग करना चाहिए, जिससे कि अविरुद्धांश प्रत्यग्चैतन्य भाग की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार 'ब्रह्म' पद के वाच्यार्थ में से भी विरुद्धांश 'प्राणपिण्डात्मककारणाविद्यापारोक्ष्य' भाग का परित्याग करना चाहिए, जिससे कि अविरुद्धांश 'अद्वयानन्दचैतन्य' लक्षित होता है ।
- इस प्रकार लक्षणावृत्ति द्वारा मुमुक्षु अहं पद से 'प्रत्यग्चैतन्य' तथा ब्रह्म पद से 'अद्वयानन्दचैतन्य' का अर्थाधिगम कर अखण्ड चैतन्य अर्थ की प्राप्ति करता है । इस अखण्ड अर्थ की प्राप्ति से मुमुक्षु में अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का निर्माण होता है, जो ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति करवाकर जीवब्रह्मैक्य का अनुभव करवाती है अर्थात् मुमुक्षु को यह अनुभव होता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ" । यही मोक्ष की अवस्था कही गई है ।
- ग्रन्थकार ने जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकृति प्रदान की है । जीवन्मुक्ति को सद्यमुक्ति भी कहा गया है ।
- जीवब्रह्मैक्य का ज्ञान होने से अज्ञान और उसके कार्यों की निवृत्ति होने से जन्म-मरण की आवृत्ति भी बाधित हो जाती है अर्थात् कारण के नष्ट होते ही कार्य भी नष्ट हो जाता है । इस समस्त संसार का कारण, अनेकता का कारण और जन्म मृत्यु का का कारण अज्ञान ही है, अत: अज्ञान के नष्ट होते ही इसके ये सभी कार्य भी नष्ट हो जाते हैं । ऐसा मनुष्य जीवन्मुक्त कहा गया है । प्रारब्ध कर्मों के क्षय पर्यन्त वह देह धारण किये रहता है और प्रारब्ध का क्षय हो जाने पर विदेह मुक्त कहलाता है ।
- ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण माना गया है ।

- "तत्त्वमसि" महावाक्य में तत् शब्द का वाच्य है- अविद्याविशिष्ट ब्रह्म । इससे आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से अन्न की उत्पत्ति होती है । अन्नशब्द वाच्य पृथिवी है । ये अपञ्चीकृत महाभूत हैं ।
- अपञ्चीकृत सत्रह तत्त्वों से सप्तदशात्मक लिङ्ग शरीर की उत्पत्ति होती है । ये सत्रह तत्त्व हैं - पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च बुद्धीन्द्रियाँ, पञ्च वायु, मन और बुद्धि ।
- मन और बुद्धि को अन्त:करण कहा जाता है । मन संशयात्मक और बुद्धि निश्चयात्मिका कही गयी है । इस प्रकार एक ही अन्त:करण क्रिया के भेद से पाचक, लावकादि के समान क्रिया के भेद से दो प्रकार से कहा जाता है ।
- अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उसका कार्य सप्तदशात्मक लिङ्ग शरीर हिरण्यगर्भ कहा गया है । यह समष्ट्यात्मक आत्मा का सूक्ष्मशरीर है ।
- अपञ्चीकृत तत्त्वों से पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्वारा पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों का निर्माण होता है । यह पञ्चीकरण की प्रक्रिया श्रुति के त्रिवित्तकरण सिद्धान्त सम्मत है ।
- पञ्चीकृत महाभूत से आधिदैविक, आध्यात्मिक जगत् और आधिभौतिक लोकप्रसिद्ध स्थूल शरीर उत्पन्न होता है । पञ्चीकृत महाभूत और उनके कार्य समस्त ब्रह्माण्ड, प्राणिवर्ग और उत्पन्न स्थूल शरीर- इन सभी को विराट् कहा जाता है । यह समष्ट्यात्मक आत्मा का स्थूल शरीर है ।
- एक ही शरीरद्वय (जड़ और चेतन) का अभिमानी जीव 'त्वम्' पद का अर्थ है । तत् शब्द का वाच्य ब्रह्म ही 'जल में सूर्य के समान' और 'घट में आकाश के समान' दोनों शरीरों में प्रवेश करके, प्राणधारण की क्रिया के योग से 'जीव' कहा जाता है ।
- सर्वज्ञात्ममुनि स्वयं प्रतिबिम्बवादी हैं । अन्त:करण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव और अज्ञान में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है । ब्रह्म बिम्ब कहा गया है जबकि ईश्वर और जीव को प्रतिबिम्ब कहा गया है । प्रतिबिम्ब के लिये ग्रन्थ में आभास पद का प्रयोग भी किया गया है ।
- वह जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थात्रय का साक्षी होते हुये भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थात्रय से भिन्न निर्गुण, निरवयव, निस्सङ्ग, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वरूप कहा गया है ।

- परमानन्द और अद्वय स्वभाव वाला परमात्मा ही जीव के रूप में तीनों कालों में विद्यमान रहकर अन्त:करण के अत्यधिक समीप होने से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन अवस्थात्रय की सभी क्रियाओं तथा क्रिया फलों को अविकृतरूप से देखता है।
- इन्द्रियों के द्वारा अर्थों की प्राप्ति की अवस्था जाग्रतावस्था कहलाती है, जो स्थूल कर्मों का निमित्त है।
- जाग्रतावस्था में करणों में संग्रहित संस्कारों को उत्पन्न करने वाले सूक्ष्म कर्मों का निमित्त, वासनारूप हस्तादि का विषय, स्वप्नावस्था है।
- स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के कर्मों के लय हो जाने पर और उन कर्मों से उत्पन्न जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं के भी लय हो जाने पर, वटवृक्ष के वटकण में समाहित होने के समान अन्त:करण का कारणरूप मायोपहित शबल ब्रह्म में लय हो जाने की अवस्था को सुषुप्ति कहा जाता है।
- समस्त जगत् की उत्पत्ति दिखाने के बाद अपवाद सिद्धान्त के द्वारा कार्य के अपने कारण में लय होने की स्थिति को प्रस्तुत कर कारण ब्रह्म में समस्त कार्य जगत् का लय दिखाया गया है।
- समस्त कार्य प्रपञ्च के लय हो जाने पर 'तत्' पद का अर्थ - शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म और 'त्वम्' पद का अर्थ - चैतन्य स्वरूप प्रत्यगात्मा ही अवशेष रहता है।
- ब्रह्म के स्वरूप को साक्षात् रूप से कहने के अभिप्राय से "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" " आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इन अवान्तर वाक्यों को स्पष्ट किया गया है। ये ब्रह्म के स्वरूप लक्षण को बताते हैं।
- ब्रह्मात्मैकत्व लक्षणरूप महावाक्यार्थों से सम्बद्ध तत् और त्वम् पदों का अर्थ बताने वाले वाक्य ही अवान्तर वाक्य है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" " आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इन दो अवान्तर वाक्यों से साक्षात् रूप से ब्रह्म पदार्थ निरूपित होता है।

- ब्रह्म की अनन्तता के प्रतिपादन के लिये सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश और नियमन- ये पाँच प्रकार के युक्ति और अर्थवाद वाक्य प्रस्तुत किये गये हैं। ये ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को बताते हैं।
- निरूपाधिक प्रत्यगात्मा के स्वरूप को बतलाने के लिये सोपाधिक पञ्च कोशों अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश का वर्णन किया गया है।
- प्रत्यगात्मा रूप में ब्रह्म को ही ज्ञान और अज्ञान का आश्रय कहा गया है। अज्ञान का विषय भी ब्रह्म को ही कहा गया है।
- जीवादि में अज्ञानाश्रयत्व का विरोध किया गया है क्योंकि जो जीव स्वयं अज्ञान का कार्य है, वह अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता।
- जीव अज्ञान का अभिव्यञ्जक है, जो कि अपने में स्थित अज्ञान को प्रकाशित मात्र करता है।
- अज्ञान के अनादि होने के कारण अन्त:करण रूपी द्वार के बिना ही चैतन्य अज्ञान का आश्रय होता है। जबकि ज्ञान के परिणामी होने के कारण अन्त:करण रूपी द्वार से युक्त होकर ही चैतन्य ज्ञान का आश्रय होता है।
- ब्रह्म में ज्ञान और अज्ञान का आश्रयत्व होने के कारण ब्रह्म का ही साधकत्व भी माना गया है।
- ब्रह्म में ज्ञान और अज्ञान का आश्रयत्व होने के कारण ही यह कहा गया है कि ब्रह्म ही अपने अज्ञान से जगत् के रूप में संसरण करता है और ब्रह्म ही अपने ज्ञान से मुक्त भी होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

(1) मुख्य स्त्रोत

(1) साक्षात्-

- सर्वज्ञात्ममुनि, पञ्चप्रक्रिया, इवन् कोमरेक कृत, (Languag and Release) आङ्ग्लानुवादसहित, दिल्ली,मोतीलाल, बनारसीदास, 1985

(2) असाक्षात्-

- अन्नंभट्ट, तर्कसंग्रह, दयानन्द भार्गव कृत, हिन्दी व्याख्या सहित,दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण, 2004
- कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्तिक,पण्डित दुर्गाधर झा कृत, हिन्दी अनुवाद सहित,दरभङ्गा, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, 2001
- केशवमिश्र ,तर्कभाषा, गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर कृत हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, पुनर्मुद्रण,1995
- गंगेशोपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, मथुरानाथ तर्कवागीश कृत व्याख्या,पण्डित जयदेव कृत व्याख्या, सम्पादक, कामाख्यानाथ तर्कवागीश, शब्दखण्ड, वारणसी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान,पुनर्मुद्रण, 1990
- दण्डी, काव्यादर्श, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वारणसी, 1966
- धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, स्वामी विद्यानन्दगिरि कृत ,हिन्दी अनुवाद सहित, ऋषीकेश,श्री कैलास आश्रम,पुनर्मुद्रण, 1983
- धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा, सविवरण'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता,डाँ श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2010
- प्रकाशानन्द, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, लक्ष्मीश्वर झा कृत, हिन्दी अनुवाद सहित, दिल्ली, नाग प्रकाशन, 1996
- प्रभाकर मिश्र, बृहती, शालीकनाथमिश्रकृत ऋजुविमलासहित,सम्पादक, चिन्नास्वामी शास्त्री, वारणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, 1933

- पतञ्जलि, महाभाष्यम् (हिन्दी व्याख्या सहितम्, तृतीयो भाग: द्वितीयोऽध्याय:), युधिष्टिर मीमांसक:, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ.(सोनीपत-हरियाणा), वि०सं०2040
- पतञ्जलि, व्याकरणमहाभाष्य, कैयटकृतप्रदीप एवं नागेशकृतप्रदीपोद्योत सहित, सम्पादक,गुरुप्रसाद शास्त्री,दिल्ली,प्रतिभा प्रकाशन, पुनर्मुद्रण, 1999
- भट्ट, नागेश, परमलघुमञ्जुषा, पण्डित कृष्णमाधव झा कृत तत्त्वप्रकाशिका संस्कृत टीका सहित, दरभंगा, 1941
- भर्तृहरि, वाक्यपदीय, रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्री संस्कृत टीका सहित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1995
- मम्मठ, काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1998।
- माधवाचार्य,सर्वदर्शनसंग्रह, उमाशङ्कर शर्मा कृत हिन्दी व्याख्या सहित,चौखम्बा संस्कृत विद्याभवन, पुनर्मुद्रण, 2001
- नृसिंहाश्रम,अद्वैतदीपिका, सम्पादक, सुब्रह्मण्य शास्त्री, वारणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1984
- विमुक्तात्मन्, इष्टसिद्धि, सम्पादक, कृष्णानन्दसागर, प्रत्यभिज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, 2003
- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, पी.वी. काणेकृत आङ्ग्लानुवाद सहित, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1995
- विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, व्याख्याकार- शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2004
- विश्वनाथपञ्चानन, कारिकावली, , न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीसहिता, शब्दखण्ड:,आलोक-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता च, आचार्य लोकमणिदाहाल:, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009

- विश्वनाथतर्कपञ्चानन, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,प.सूर्यनारायण शुक्लकृत मयुखटीका, प.रामगोविन्द शुक्लकृत हिन्दी व्याख्या सहित, हरिकृष्ण निबन्ध भवन, भाग १-२, वाराणसी, 1987
- विद्यारण्य, पञ्चदशी, स्वामी स्वाहानन्द कृत आङ्ग्लानुवादसहित,मद्रास, रामकृष्ण मठ, पुनर्मुद्रण, 2004
- विद्यारण्य, पञ्चदशी, श्रीरामकृष्णकृतपददीपिकानाम्नी व्याख्यासहित, सम्पादक,पणशीकरोपाह्वविद्वद्वरलक्ष्मणात्मजवासुदेव शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2003
- सदानन्दयोगीन्द्र, वेदान्तसार, सत्यनारायण श्रीवास्तव कृत हिन्दी अनुवाद सहित,इलाहाबाद,सुदर्शन प्रकाशन,पुनर्मुद्रण, 2000
- सदानन्दयोगीन्द्र, वेदान्तसार, श्रीरामतीर्थविरचिता विद्वन्मनोरञ्जनी सहित, हिन्दी व्याख्याकार आचार्य बद्रीनाथशुक्ल, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 2003
- सर्वज्ञात्ममुनि, संक्षेपशारीरकम्, श्रीस्वामीरामानन्दकृत भावदीपिका हिन्दीव्याख्या सहितम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987
- सर्वज्ञात्ममुनि, संक्षेपशारीरकम्, रामतीर्थकृत अर्थप्रकाशिका सहित भाऊ शास्त्री बझे, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1992
- सर्वज्ञात्मन्, पञ्चप्रक्रिया, श्रीमदानन्दज्ञानविरचितटीकया, श्री पूर्णविद्यामुनिविरचित- व्याख्यया च समेता, सम्पादक ति.रा.चिन्तामणि:, मद्रपुरी विश्वविद्यालय, मद्रास, 1946
- सुरेश्वराचार्य,बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक,सम्पादक, श्री एस.सुब्रह्मण्यशास्त्री, महेश अनुसन्धान संस्थान, वाराणसी, 1990

- सुरेश्वराचार्य, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, सटिप्पणी हिन्दी-अनुवाद सहित भूमिका, अनुवादक, राधेश्याम, मेहरचन्द लक्षमनदास पब्लिकेशन्स, 1978
- सुरेश्वराचार्य, नैष्कर्म्यसिद्धिः, पं. प्रेमवल्लभत्रिपाठीशास्त्री, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली,2009
- शङ्कराचार्य, गीताभाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2009
- शङ्कराचार्य, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर , संवत् 2009
- शङ्कराचार्य, ईशादिनवोपनिषद्भाष्य,हिन्दी अनुवाद सहित,गोरखपुर, गीताप्रेस, संवत् 2060
- शङ्कराचार्य,बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य,हिन्दी अनुवाद सहित,गोरखपुर गीताप्रेस, संवत् 2060
- शङ्कराचार्य, उपदेशसाहस्री, डाँ श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन, वाराणसी, 2010
- शङ्कराचार्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2009
- शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, सत्यानन्दी दीपिका सहित, व्याख्याकार, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2008
- शङ्कराचार्य, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्,(एकादशटीकासंयुक्तम्),प्रो.योगेश्वरदत्त शर्मा जवाहर नगर, दिल्ली ,1987
- शङ्कराचार्य ,वाक्यवृत्ति, स्वामी चिन्मयानन्द कृत, आङ्ग्लानुवादसहित,मुम्बई, केन्द्रीय चिन्मय मिशन ट्रस्ट, पुनर्मुद्रण,2003
- शङ्कराचार्य, वाक्यवृत्ति, श्रीमदानन्दगिरिस्वामिकृतं विवरणसहितम्, श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन, काशी, 2000

- शङ्कराचार्य ,उपदेशसाहस्री, स्वामी जगदानन्द कृत,आङ्ग्लानुवादसहित,मद्रास, रामकृष्ण मठ रोड, पुनर्मुद्रण, 2003
- शङ्कराचार्य, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य, हिन्दी अनुवाद सहित, गोरखपुर, गीताप्रेस, संवत् 2060
- शङ्कराचार्य, विवेकचूडामणि, गीताप्रेस, गोरखपुर , संवत् 2060

(2) गौण स्त्रोत-

(1) स्वतन्त्र ग्रन्थ-

- कुमार, प्रो० पुष्पेन्द्र, तैत्तिरीयब्राह्मणम्, भाग३, श्रीमत्सायणाचार्यविरचित-भाष्यसमेतम्, नाग प्रकाशन , दिल्ली, 1998
- चन्द्र, डॉ. अविनाश, शब्दवृत्तिविमर्श, वाणी विनायक प्रकाशन, इलाहबाद, 2002
- चतुर्वेदी, प्रो.शारदा, शब्दविमर्श, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2006
- झा, डॉ. कामदेव, शब्दब्रह्ममीमांसा, आई.बी.ए.पब्लिकेशन, अम्बाला, 2009
- झा, डॉ. वीणा ,शंकर का अद्वैत वेदान्त, पटना, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1988
- सातवलेकर, पं. श्री पाद दामोदर , ऋग्वेदसंहिता , स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जिला- बलसाड) गुजरात, 1998
- शर्मा, राममूर्ति, अद्वैतवेदान्त, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1972
- शर्मा, डॉ. बालकृष्ण, काव्यप्रकाश का दार्शनिक धरातल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1997

- शास्त्री, डॉ. राधाकृष्ण, शुक्लयजुर्वेदसंहिता (उवट विरचित मन्त्र एवं महीधर कृत वेददीप भाष्य सहित),तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 2004
- त्रिपाठी, आचार्य श्री रामप्रसाद, शब्दशास्त्रीयवृत्तिविमर्श:, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, विक्रम संवत्- 2045
- Dasgupta, Surendra Nath, A History of Indian Philosophy, Delhi, Motilal banarasidas, Rpt.2004.
- Jha, Ujjwala, A Primer of Navya Nyaya Language and Methodology, The Asiatic Society, Kolkata, 2004 .
- Raja, K.Kunjunni, Indian Theories of Meanina, Chennai,The Adyar Library and Research Centre, Rpt. 2000.
- Swami, Satprakashananda, Methods of Knowledge, According to Advait Vedanta Ashram, Rpt.2001.

(2)शोध प्रबन्ध-

- विमल, लक्ष्मीकान्त, शांकरवेदान्त में अर्थनिर्धारण सिद्धान्तों का अध्ययन, शोधप्रबन्ध, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली,2009
- Jha, Ram Nath, "An Epistemological Study of Sankarabhasya-s on Prasthanatrayi"Thesis, Delhi, Department of Sanskrit, Delhi-University of Delhi, 2000.

(3) शब्दकोश तथा विश्वकोश-

- अवस्थी, बच्चूलाल, भारतीय दर्शन बृहत्कोश, दिल्ली, शारदा पब्लिशिंग हाउस, 2004.
- आप्टे, वामन शिवराम ,संस्कृत हिन्दी कोश, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण, 1989.
- कुमार, शशिप्रभा, शुक्ल, सन्तोष कुमार , झा, राम नाथ, दार्शनिक सम्प्रत्यय कोश, डी.के. प्रिन्टवर्ड, नई दिल्ली, 2014
- झलकीकर,भीमाचार्य , न्यायकोश, सम्पादक, वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर, पूना, भण्दारकर प्राच्य विद्या संशोधन मण्डल, पुनर्मुद्रण, 1996
- पाण्डेय, मुरलीधर ,शाङ्करवेदान्त कोश, वाराणसी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1988.
- शुक्ला, दीनानाथ, *भारतीय दर्शनपरिभाषा कोश*, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली,1996
- Potter, Karl H., *Encyclopoedia of Indian philosophy*, Vol. 11,3, Delhi, Motilal Banarasidas, Rpt.1889.
- Sharma,Ran Murti ,*Encyclopoedia of Vedanta*, Delhi, Eastern Book Linkers, 1993.
- Williams, Monier, *The Sanskrit English Dictionary*, The Clarendon Press, Oxford, 1889.

(4) पत्रिका तथा सम्मेलन पत्र-

- Joshi, S.D,Proceedings of The Winter Institute on Ancient Theories on Sentence-Meaning, Pune, University of Poona, 1980.
- Jha, Ram Natha,*The Definition Satyam jnanam Anantam Brahma Defines Brahman as Indefinable :Sankara,* Presented in the 18th International Conference of Vedant Organised by Centre For Indic

Studies, University of Massaachusetts MA, U.S.A. , held from 16th July to 19th July 2009.

- Jha, Ram Nath , *Sankara on Shruti as Verbal Testimony,* Under the book title Veda as Word, edited By Prof.Shashiprabha Kumar, Published Special Centre for Sanskrit Studies,J.N.U. New Delhi in association with D.K. print World (P) Ltd. New Delhi, 2006.
- R. Balasubramaniam, *Perspectives of Sankara,* Department of Culture, Ministry of Human Resource Development, Government of India,1989.